वर्ष १] सस्ती साहित्यमाला [पुस्तक ६

आत्मोपदेश

लेखक—

श्रीनरेन्द्रनारायण सिंह

मूल्य ।-) १९२६ [वार्षिक मूल्य ४)

प्रकाशक —

जीतमल लूणिया, मंत्री

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल,

अजमेर

लागत का ब्यौरा

कागज	१२०)
छपाई	१३७)
बाइंडिंग	१३)
लिखाई, व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	१५२)
कुल जोड़	४२२)

प्रतियां २०००

एक प्रति का मूल्य ≡)॥

मुद्रक—

रामकुमार भुवालका

"हनुमान प्रेस"

३, माधो सेठ लेन, कलकत्ता।

विषय-सूची

क्रमिक संख्या विषय पृष्ठ संख्या

श्रीः

आत्मोपदेश

तत्वज्ञानका आरम्भ

(१) यदि तुम अच्छे होना चाहते हो तो पहले अपने बुरे होनेका दृढ़ विश्वास कर लो।

(२) जो लोग प्रकृत उपायसे तत्त्वज्ञानमें यथारीति प्रवेश करना चाहते हैं, कमसे कम उन लोगोंको यह जान लेना उचित है कि अपनी दुर्ब्बलता तथा प्रयोजनीय द्रव्योंके अर्ज्जन करनेमें अपनी असमर्थताका भाव अपने मनमें लाना ही तत्वज्ञानका आरम्भ है।

(३) जिस समय हम लोग इस पृथ्वीपर उत्पन्न होते हैं उस समय ज्यामितिके समकौणिक त्रिभुज, सङ्गीतके कोमल, अति कोमल स्वर—इन सब विषयोंके सम्बन्धमें हम लोगोंको कोई भी सहज स्वाभाविक धारणा नहीं होती। परन्तु लगातार विद्याकी शिक्षाके फलसे हम लोग पीछे इन सब विषयोंका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। और देखो, जो लोग इन विषयोंके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानते वे ऐसा समझते भी नहीं हैं कि हम जानते हैं। किन्तु

अच्छा बुरा, सुख दुःख, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य—ऐसा कौन मनुष्य है जो इन सब विषयोंका स्वाभाविक संस्कार लेकर जन्म ग्रहण नहीं करता ? इसी तरह हम लोग सभी इन शब्दोंका व्यवहार किया करते हैं और प्रत्येक विषयके साथ इन स्वाभाविक संस्कारोंका मेल मिलानेकी चेष्टा किया करते हैं। "अमुक मनुष्यने अच्छा काम किया है," "ठीक किया है," "ठीक नहीं किया," "अमुक मनुष्य अच्छा है," "अमुक अच्छा नहीं है" हम लोगोंमें कौन ऐसा है जो इन सब वाक्योंका सदैव व्यवहार नहीं करता ? ऐसा कौन है जो इन सब वाक्योंका व्यवहार करनेके लिये ज्यामिति या सङ्गीतकी भांति शिक्षाकी अपेक्षा करता है ? इसका कारण यही है कि हम लोग पहलेसे ही इन सब विषयोंमें शिक्षित होकर - इनका स्वाभाविक संस्कार लेकर—जन्म ग्रहण करते हैं, और आरम्भमें इन संस्कारोंको प्राप्त करके पीछे इनमें अपना मतामत भी मिला देते हैं।

यदि किसीको कहा जाय कि तुम्हारा यह काम करना अच्छा नहीं हुआ, तो सम्भवतः वह कहेगा—"क्यों, अच्छा या बुरा किसे कहते हैं, यह क्या मैं नहीं जानता ?—इस सम्बन्धमें क्या मेरी कोई धारणा नहीं है ?"

"हां, यह ठीक है कि तुम्हें इसकी धारणा है।"

"और क्या मैं इस धारणाका प्रत्येक विषयमें पृथक् पृथक् प्रयोग नहीं करता ?"

"हां, तुम प्रयोग किया करते हो।"

"तब क्या मैं ठीक तरहसे प्रयोग नहीं करता ?"

इसी जगह असली प्रश्न आकर उपस्थित होता है और इसी जगह अपना कल्पित मतामत मिलानेका अवसर आता है। जो सब विषय सर्व्ववादी सम्मत हैं उन्हींसे विचारका आरम्भ करके हम भ्रान्त प्रयोग द्वारा वाद्विवाद्के विषयकी अवतारणा करते हैं। "तुम लोग समझते हो कि तुम अपने स्वाभाविक संस्कारोंका प्रत्येक विषयमें पृथक् पृथक् ठीक तौरसे प्रयोग किया करते हो: अच्छा, तुम लोगोंके ऐसे विश्वासका कारण क्या है ?"

"कारण, मेरे मनमें आता है कि यह ठीक है।"

"किन्तु और एक आदमीके मनमें जो यह दूसरी तरहका मालूम होता है इसकी मीमांसा कैसे करते हो ? वह भी क्या अपने मनमें अपने प्रयोगको ठीक नहीं समझता ?"

"हां, वह ठीक ही समझता है।"

"अच्छा, तब जिन विषयोंमें तुम दोनोंके मत परस्पर-विरोधी हैं उन सब विषयोंमें क्या तुम दोनोंने अपने अपने स्वाभाविक संस्कारोंका ठीक रीतिसे ही प्रयोग किया है ?"

"नहीं, ऐसा हो नहीं सकता।"

"तब क्या तुम ऐसा कुछ दिखा सकते हो जो तुम्हारे मनमें आनेकी अपेक्षा अधिक प्रामाणिक हो ? एक पागल भी तो कहता कि वह जो अपने मनमें समझता है सो ठीक है। उसके पक्षमें क्या यह मनमें आनेकी युक्ति यथेष्ट समझी जा सकती है ?"

"नहीं, यह यथेष्ट नहीं है।"

"अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जो "मनमें आने"की अपेक्षा अधिक मान्य है, वह क्या है ?"

(४) अच्छा, अब देखो कि तत्त्वज्ञानका आरम्भ कहांसे होता है। किस कारणसे लोग परस्पर-विरुद्ध मत अवलम्बन करते हैं, कहांसे यह परस्पर-विरोधिता उत्पन्न होती है, मतमात्र ही विश्वासयोग्य है या नहीं, इन्हीं सबका सम्यक् रूपसे दर्शन करना--निर्भ्रान्त ज्ञान प्राप्त करना—दर्शनशास्त्रका आरंभ है। जो मनमें मालूम होता है वह ठीक है या नहीं, और हम लोग जैसे तराजूके द्वारा ठीक तौल जानते हैं, सूना धरकर जैसे टेढ़े या सीधेका निर्णय करते हैं, उसी प्रकार इन स्वाभाविक संस्कारोंके प्रयोगके सम्बन्धमें कोई निर्दिष्ट नियम है या नहीं, इसीका अनुसन्धान करना तत्त्वज्ञानकी पहली सीढ़ी है। जो मेरे मनमें होता है, वही क्या ठीक है ? यदि ऐसा हो तो जो सब विषय परस्पर-विरोधी हैं, वे सभी किस तरह ठीक हो सकते हैं ?

"जो मनमें होता है वही ठीक है, यह बात मैं नहीं कहता। ठीक समझकर जिसपर मेरा विश्वास होता है वही ठीक है।"

"तुम जिसको ठीक समझते हो उसीके सम्बन्धमें दूसरे आदमीका ठीक उलटा विश्वास हो सकता है। अतएव सब विषयमें "मनमें होने"और "वास्तविक होने"की बात एक नहीं हो सकती। देखो, वजन अथवा मापके समय हम लोग "मनमें होने"के ऊपर निर्भर नहीं रहते—उससे सन्तुष्ट नहीं होते। उन दोनों अवसरोंपर हम लोग एक निर्दिष्ट नियमका अनुसरण करते हैं। तब

क्या केवल तत्वज्ञानके सम्बन्धमें "मनमें होने"के सिवा और कोई नियम नहीं है ? और यह क्या कभी हो सकता है कि जो मनुष्य-के लिये सबसे अधिक आवश्यक विषय है उसीका कोई प्रमाण नहीं—आविष्कारका कोई उपाय भी नहीं हो ? अवश्य ही उसका एक निर्द्दिष्ट नियम है—प्रमाण है। वह नियम क्या है, इसका पता लगानेकी चेष्टा करो। उसका पता लगा सकनेपर सब प्रकारका पागलपन दूर हो जायगा। ऐसा होनेपर हम फिर कभी मानसिक धारणारूपी भ्रमपूर्ण तराजूपर वस्तु-समूहको नहीं तौलेंगे।

(५) हम लोग आजकल किस विषयका तत्वानुसन्धान करते हैं ?—सुखका ? अच्छा, तब उसको उसी नियमके हाथमें समर्पण करो—उसी तराजूपर रखो।

"अच्छा, श्रेय एक ऐसा विषय है या नहीं जिसके ऊपर निर्भर रहना हम लोगोंका कर्त्तव्य हो ?"

"निश्चय ही श्रेयके ऊपर निर्भर रहना मनुष्यका कर्त्तव्य है।"

"और श्रेयपर विश्वास करना उचित है या नहीं ?"

"हां, विश्वास करना उचित है।"

"अच्छा, जो अस्थायी है उसपर हम लोग निर्भर रह सकते हैं या नहीं ?"

"नहीं, नहीं रह सकते।"

"अच्छा, सुखका क्या कुछ स्थायित्व है ?"

"नहीं, स्थायित्व नहीं है।"

अच्छा, तब सुखको अर्थात् प्रेयको श्रेयके स्थानसे हटाकर तराजूसे उतार फेंको। किन्तु यदि तुम्हारे ज्ञानचक्षुओंकी दृष्टि क्षीण और अस्पष्ट हो, यदि केवल इसी एक तराजूको जांचको यथेष्ट नहीं समझते हो, तो एक और तराजूपर तौल लो।

"जो श्रेय है उसीमें आनन्द लाभ करना ठीक है या नहीं?"

"हां, यही ठीक है।"

"और सुखकी सामग्रियोंमें आनन्द लाभ करना क्या ठीक है?"

इन सब विषयोंको तराजूपर ठीक तरहसे तौलकर तब उत्तर देना।

नियमका तराजू यदि तुम्हारे हाथमें हो तो तुम्हारे लिये इन सब विषयोंका विचार करना—तौलना सहज हो जायगा।

इन सब नियमोंकी परीक्षा करना—स्थापन करना ही तत्व-विद्याका मुख्य उद्देश्य है। और इन नियमोंके आविष्कृत होनेपर अपने जीवनमें उनका व्यवहार करना ही तत्वज्ञानी साधु-जनोंके लिये कर्तव्य है।

स्वाभाविक संस्कार और विवेकबुद्धि

स्वाभाविक संस्कार-समूह मनुष्यमात्रकी साधारण सम्पत्ति हैं और वे सर्ववादिसम्मत हैं। उनके विषयमें कभी मनुष्योंमें परस्पर विरोध उपस्थित नहीं होता, क्योंकि हम लोगोंमें कौन इस बातको स्वीकार नहीं करता कि जो श्रेय है वही उपादेय है और श्रेयको ही वरण करना -उसका अनुसरण करना हम लोगोंका कर्त्तव्य है। तब परस्पर-विरोधिता किस समय उपस्थित होती है?—परस्पर-विरोधिता उसी समय उपस्थित होती है जब हम लोग इन स्वाभाविक संस्कारोंका विशेष विशेष विषयोंमें प्रयोग करने लगते हैं।

अच्छा, तब शिक्षा किसे कहते हैं?—प्रकृतिका अनुसरण करके, इन स्वाभाविक संस्कारोंका विशेष विशेष विषयोंमें प्रयोग करनेकी रीति सीखनी प्रकृत शिक्षा है और इसके सिवा इस बातका निर्णय करना भी, कि कौन कौन वस्तुएं हम लोगोंके आयत्ताधीन हैं और कौन कौन हम लोगोंके आयत्ताधीन नहीं हैं। हम लोगोंकी इच्छा और हमारे इच्छाकृत कार्य ही हम लोगोंके आयत्ताधीन हैं। बाह्य वस्तुएं और हम लोगोंकी बाह्य अवस्था सम्पूर्ण रूपसे हम लोगोंके आयत्ताधीन नहीं हैं। उनके ऊपर हम लोगोंका मङ्गल अमङ्गल निर्भर नहीं करता। जो हम लोगोंके आयताधीन है—हम लोगोंकी उसी इच्छाके ऊपर ही

हम लोगोंका मङ्गल अमङ्गल अवलम्बित है। इच्छा शक्तिका प्रयोग करके ही हम लोग श्रेयके पथपर अग्रसर होते हैं। प्रवृत्ति हम लोगोंको स्वार्थसाधनकी ओर—अस्थायी तुच्छ सुखकी ओर—प्रेयको ओर—ले जाती है। स्वार्थसाधन अथवा प्रेय ही यदि हमारे जीवनका पथप्रदर्शक हो तो ऐसा होनेसे हम लोग अन्तमें कहां जा पहुंचेंगे? एक टुकड़ा जमीन रखना अगर हमारा स्वार्थ हो, तो उस जमीनको अपने पड़ोसीसे छीन लेना भी हमारा स्वार्थ होगा। यदि एक टुकड़े कपड़ेसे हमारा स्वार्थसाधन हो, तो उसे चुराकर ले आना भी हमारे स्वार्थके अनुकूल होगा। इसी भ्रान्त धारणाके कारण तो पृथ्वीपर इतने युद्ध, विग्रह, विद्रोह, विप्लव, प्रजापीड़न और षड्यंत्र हुआ करते हैं। सांसारिक सुख दुःखके ऊपर ही यदि हम लोगोंका शुभाशुभ अवलम्बित हो, तो ईश्वरके प्रति अपने मनको प्रकृत पथपर हम लोग किस प्रकार रख सकेंगे? कारण, यदि हम क्षतिग्रस्त हों, दुःख-दुर्दशा भोग करें, तो ऐसा होनेसे ही हम कहेंगे कि ईश्वर हमारी अवहेला करते हैं। बाह्य विषयोंपर ही यदि श्रेयकी प्रकृति और श्रेयका श्रेयत्व निर्भर करे, तब तो ईश्वरके प्रति हम लोगोंके मनका भाव इस प्रकार ही होगा। अतएव ऐहिक सुख दुःखपर हम लोगोंका शुभाशुभ निर्भर नहीं रहता; जो हमारे आयत्ताधीन है उसी इच्छाके प्रयोगपर हम लोगोंका प्रकृत शुभाशुभ निर्भर रहता है।

हम लोगोंकी जितनी मनोवृत्तियां हैं उनमेंसे एक मनोवृत्ति

आप ही अपनी आलोचना किया करती है—आप ही अपनेको अच्छी कहती है अथवा बुरी कहती है। इस तरहकी आत्म-दृष्टि क्या व्याकरणकी है?—नहीं, व्याकरण केवल शब्दके सम्बन्धमें ही विचार कर सकता है। और सङ्गीत?—सङ्गीत केवल स्वरके सम्बन्धमें ही विचार कर सकता है। इन दोनोंमेंसे कोई भी क्या आप अपनी आलोचना कर सकता है? नहीं, कोई भी ऐसा नहीं कर सकता। तुम्हें अपने मित्रको जब पत्र लिखनेकी आवश्यकता होती है, तब व्याकरण यह बता देता है कि किस प्रकार उसे पत्र लिखना होगा। सङ्गीतके सम्बन्धमें भी यही बात है। तुम्हें इस समय पत्र लिखना उचित है अथवा उचित नहीं है, गाना उचित है या बजाना उचित है, यह सब बातें व्याकरण अथवा सङ्गीत नहीं बता सकता। तब कौन बतावेगा?—तुम्हारी वही मनोवृत्ति बतावेगी जो आप अपनी आलोचना करती है और दूसरे सब विषयोंकी भी आलोचना किया करती है। वह विवेकबुद्धि है। विवेकबुद्धिके सिवा और कोई भी वृत्ति आप अपनी आलोचना नहीं कर सकती। अर्थात् वह स्वयं क्या पदार्थ है? वह स्वयं क्या कर सकती है? उसका मूल्य क्या है? इन सब विषयोंकी अन्य वृत्ति आलोचना नहीं कर सकती। और यह वृत्ति जैसे आप अपनी आलोचना करती है, उसी प्रकार अन्य वस्तुओंके सम्बन्धमें भी आलोचना किया करती है। कोई एक सोनेकी वस्तु सुन्दर है, यह और कौन कह सकता है? सोनेकी वस्तु स्वयं तो यह बात कहती

नहीं। अतएव स्पष्ट ही देखा जाता है कि यह वृत्ति बाहरी विषयोंमें भी प्रयुक्त होती है। व्याकरणके सम्बन्धमें, सङ्गीतके सम्बन्धमें तथा अन्यान्य मनोवृत्तियोंके सम्बन्धमें तत्व कौन विचार किया करता है? कौन उन सबके प्रयोगस्थलोंका निश्चय कर देता है? कौन किस समयके लिये उपयोगी है, यह कौन बता देता है?—वह विवेकबुद्धिके सिवा और कोई भी नहीं है।

ईश्वरने इस विवेकशक्तिको ही हम लोगोंके अधीन कर दिया है। इसके द्वारा ही हम लोग बाह्य विषयोंका समुचित रूपसे व्यवहार किया करते हैं। किन्तु अन्य विषय-समूह हम लोगोंके आयत्ताधीन नहीं हैं। बाहरी वस्तुएं हम लोगोंके रक्त-मांसके साथ जकड़ी हुई हैं, वह सब क्या हम लोगोंको बाधा न देंगी? यह शरीर तो एक प्रकारका नश्वर मृत्पिण्ड-विशेष है। इसीसे देवता लोग कहते हैं कि अवश्य ही इस शरीरको तुम्हारे आयत्ताधीन नहीं कर सकते, किन्तु हम लोगोंने अपना अंश तुम्हें दिया है।

वह क्या है?—निर्व्वाचन करना ग्रहण करना अथवा नहीं ग्रहण करना, अनुसरण करना अथवा त्याग करना -संक्षेपमें कहा जाय तो बाह्य विषयोंका यथायोग्य व्यवहार करनेकी शक्ति तुम्हें दी है। इस शक्तिकी यत्नपूर्व्वक रक्षा करो, इस शक्तिको ही अपनी सम्पत्ति समझकर इसका व्यवहार करो, ऐसा करनेसे और बाधा नहीं पाओगे, भारग्रस्त नहीं होओगे, पश्चात्ताप नहीं करना होगा, किसीकी निन्दा अथवा स्तुति न

करनी पड़ेगी। यह दान क्या सामान्य दान है? इससे क्या तुम सन्तुष्ट नहीं हो? ईश्वरसे प्रार्थना करो कि हम लोग इसीसे सन्तुष्ट रह सकें। जो एक विषय हम लोगोंके आयत्ताधीन है उसीकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी—उसीमें आसक्त होना ही हम लोगोंका कर्त्तव्य है। किन्तु ऐसा न करके हम लोग अनेक विषयोंमें अपनेको आबद्ध करते हैं। स्त्री, पुत्र, धन, जन आदिमें हम लोग आसक्त हो जाते हैं और इस प्रकार भारग्रस्त होकर हम लोग रसातलकी ओर आकृष्ट होते हैं। यदि हमारे अनुकूल वायु नहीं चलती तो हम लोग हताश होकर सतृष्णभावसे उसकी प्रतीक्षा किया करते हैं। अभी उत्तरकी हवा बहती है, उससे हमारा क्या होता जाता है? पश्चिमी हवा कब चलेगी?—जब पवनदेवकी कृपा होगी। हवाके मालिक तो तुम नहीं हो—वह हैं पवनदेव। तब इस समय हम लोग क्या करेंगे? जो हम लोगोंकी अपनी वस्तु है उसकी किस प्रकार उन्नति होगी सद्व्यवहार होगा—उसीका यत्न करना हम लोगोंका कर्त्तव्य है। और ईश्वरने जिसकी जैसी प्रकृति दी है उसके अनुसार ही अन्य सब वस्तुओंका व्यवहार करना उसके पक्षमें युक्तिसंगत है।

शरीर जैसे वैद्यका प्रयोगस्थल है, पृथ्वी जैसे किसानका प्रयोगस्थल है, यह विवेकबुद्धि वैसे ही तत्वज्ञानी साधुजनोंका प्रयोगस्थल अर्थात् साधन-क्षेत्र है। और प्रत्येक पदार्थका अपनी प्रकृतिके अनुसार व्यवहार करना ही उनका कार्य है।

जो अच्छा है उसका ग्रहण करना, जो बुरा है उसका त्याग करना और जो अनिश्चित है उसके विषयमें उदासीन रहना यही आत्मामात्रकी प्रकृति है। विक्रेताके हाथमें उचित मूल्य-स्वरूप देशकी प्रचलित मुद्रा देनेसे जिस प्रकार वह खरीदारको उसके बदलेमें इच्छित पण्य द्रव्य देनेको बाध्य है, उसी प्रकार आत्माके निकट श्रेयके उपस्थित होनेपर आत्मा उसे ग्रहण किये बिना रह नहीं सकती। हम लोग अपनी इच्छाका किस प्रकार प्रयोग करें, किस ओर उसे ले जायं, इसीके विवेचनपर हम लोगोंका मङ्गल अमङ्गल निर्भर रहता है। तब हम लोग दूसरे विषयोंके लिये क्यों इतने व्याकुल होते हैं? जो तुम्हारे आयत्ताधीन है—जो तुम्हारा अपना धन है उसीको दृढ़तासे धरे रहो; जो तुम्हारे आयत्ताधीन नहीं—जो तुम्हारा अपना नहीं है उसका लोभ मत करो—उसमें आसक्त मत होओ। भक्ति तुम्हारी अपनी सम्पत्ति है-श्रद्धा तुम्हारी अपनी सम्पत्ति है-उससे कौन तुम्हें वञ्चित कर सकता है, यदि तुम अपनी इच्छासे उससे वञ्चित न होओ? जो तुम्हारी अपना वस्तु नहीं है उसमें आसक्त होनेसे तुम केवल बाधा पाओगे, भारग्रस्त होओगे, उद्विग्न होओगे, पश्चात्ताप करोगे, ईश्वर और मनुष्यके प्रति दोषारोपण करोगे। किन्तु यदि तुम उसमें आसक्त न होओ, तो कोई भी बाधा नही दे सकेगा, तुम्हारे ऊपर कोई बलप्रयोग नहीं कर सकेगा, कोई तुम्हारी हानि नहीं कर सकेगा, कोई तुम्हारा शत्रु नहीं होगा, किसीसे भी तुम क्षतिग्रस्त नहीं होओगे। किन्तु

यह साधनका विषय है—इसमें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये तुम्हें कितने ही पदार्थोंका एक दम परित्याग करना होगा। उच्च उद्देश्यके साधनके लिये कतिपय नीच उद्देश्योंका विसर्जन करना होगा। यदि मुक्ति चाहो, मङ्गल चाहो, तो नीच सुख और स्वार्थका विसर्जन करना होगा। यदि कोई वस्तु तुम्हें कठोर मालूम हो तो उसे देखकर इस प्रकार कहनेका अभ्यास करो—"देखनेमें तुम जैसे मालूम होते हो वास्तवमें तुम वैसे नहीं हो।" इसके बाद परीक्षा करके उसे देखो, विशेषतः यह देखो कि वह तुम्हारे आयत्ताधीन है या नहीं। यदि वह तुम्हारे आयत्ताधीन न हो, तो यह समझो कि "जब वह मेरी अपनी वस्तु नहीं है तब उससे मेरा कुछ भी होने जानेका नहीं।"
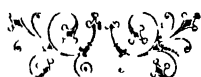
तत्वज्ञानका पथ

एक बार कोई एक रोमनिवासी अपने पुत्रको साथ लेकर एपिक्टेटसका उपदेश सुनने गया। एपिक्टेटसने कहा "इसी प्रकारकी हमारी उपदेशपद्धति है" और इतना ही कहकर वह चुप हो रहा। किन्तु आगन्तुक मनुष्यने जब उनसे पुनः उपदेश देनेके लिये अनुरोध किया तब उन्होंने फिर इस प्रकार कहना आरम्भ किया :—

१—जो लोग शिक्षित और चतुर नहीं हैं वे पहलेपहल जब कोई विद्या सीखना आरम्भ करते हैं तव उन्हें वह अत्यन्त कठिन बोध होती है। किन्तु उस विद्याके द्वारा जो सामग्री प्रस्तुत होती है उसकी आवश्यकता और लाभकारिता तत्काल सब लोगोंको प्रत्यक्ष देखनेमें आती है और उन सब सामग्रियोंके भीतर प्रायः कुछ ऐसे गुण भी होते हैं जो चित्ताकर्षक और प्रीतिजनक हों। कोई चमार जिस समय जूता बनाता है उस समय यदि कोई आदमी वहां खड़ा होकर उसका काम देखे तो देखनेसे उसे सुख नहीं होगा, किन्तु वास्तवमें जूता एक कामकी चीज है और तैयार होनेपर देखनेमें भी वह बुरा नहीं मालूम होता। इसी प्रकार बढ़ईका काम भी खड़े खड़े देखनेसे बहुत कष्टकर प्रतीत होता है, किन्तु काम पूरा हो जानेपर उसकी उपयोगिता

तत्काल ही मालूम हो जाती है। सङ्गीतशिक्षाके सम्बन्धमें यह बात और भी अधिक घटती है। सङ्गीतशिक्षाका उपदेश सुनना अत्यन्त कष्टकर होता है, किन्तु सङ्गीत किसे अच्छा नहीं लगता? अशिक्षित व्यक्ति भी उसकी माधुरीपर मुग्ध हो जाता है। जो लोग तत्वज्ञान सीखते हैं उनका भी एक विशेष उद्देश्य होता है मुझे समस्त बाहरी घटनाओंके साथ अपनी इच्छाको इस प्रकार मिलाना होगा जिसमें मेरी इच्छाके विरुद्ध कोई घटना न हो अथवा मैं जो इच्छा करूं उसके सिवा और कोई घटना होने न पावे। इसी शिक्षा और साधनाके फलसे तत्वज्ञानी जिस वस्तुकी इच्छा करते है उसे ही प्राप्त करते है और जिसकी इच्छा नहीं करते उसका त्याग कर सकते हैं। इस प्रकार वे बिना कष्टके, बिना भयके, बिना उद्वेगके जीवन व्यतीत करते हैं। यही तो तत्वज्ञानियोंका काम है। किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि यह कार्य किस उपायसे सिद्ध किया जा सकता है?

२—बढ़ई जो बढ़ई होता है सो कुछ सीखकर ही होता है, नाविक जो नाविक होता है सो भी कुछ सीख करके ही होता है। तत्वज्ञानीके सम्बन्धमें तब क्या यह बात नहीं घटती? हम लोग अच्छे होंगे, ज्ञानी होंगे—यह क्या केवल इच्छा करनेसे ही हो जायगा? नहीं,उसके लिये एक विशेष प्रकारकी शिक्षा चाहिये—साधना चाहिये। अच्छा तो अब यह देखना चाहिये कि पहले हम लोगोंको कैसी शिक्षा प्राप्त करनी होगी।

३—तत्वज्ञानी लोग कहते हैं कि सबसे पहले यह बात जाननी चाहिये कि ईश्वर हैं, वह सभी पदार्थों का निरीक्षण करते हैं। क्या कार्य, क्या चिन्ता, क्या कामना—कुछ भी उनसे छिपाया नहीं जा सकता। इसके बाद यह जानना होगा कि देवताओंका क्या स्वभाव है? देवताओंकी प्रकृति जैसी निश्चित होगी, यथासाध्य उनकी सेवा और तुष्टिसाधन करके भक्त लोग उनके अनुरूप होनेकी चेष्टा करेंगे। यदि देवता सत्यनिष्ठ हों, तो उन लोगोंको भी सत्यनिष्ठ होना होगा; यदि वह मुक्त हों तो उन लोगोंको भी मुक्त होना होगा; यदि वह शुभङ्कर हों, तो उन लोगोंको भी शुभङ्कर होना होगा; यदि वह महानुभव हों; तो उन लोगोंको भी महानुभव होना होगा। इसी प्रकार देवताओंके समकक्ष होनेकी चेष्टा करनी होगी, उसी प्रकारकी बातें कहनी होंगी और कार्य करने होंगे।

४—अच्छा, तो पहले किस जगहसे आरम्भ करना होगा? मैं कहता हूं कि पहले वाक्यके अर्थके प्रति ध्यान दो।

"तो क्या मैं वाक्यार्थ नहीं समझता?"

"नहीं, तुम नहीं समझते।"

"तब मैं वाक्यका व्यवहार किस प्रकार करता हूं?"

अशिक्षित लोग जिस प्रकार लिखित वाक्यका व्यवहार करते हैं अथवा गाय भैंस आदि जिस प्रकार बाहरी पदार्थों का व्यवहार करती हैं, तुम भी उसी तरह व्यवहार करते हो। कारण, व्यवहार करना एक बात है और समझना दूसरी बात है।

यदि तुम्हारा यह ख्याल हो कि तुम वाक्यार्थ समझते हो तो अच्छी बात किसी एक वाक्यको लेकर देख जाय कि तुम उसका अर्थ समझते हो या नहीं। किन्तु तुम्हारे जैसे वृद्ध मनुष्यके लिये हार मानना कष्टकर होगा। मैं यह अच्छी तरह जानता हूं कि तुम यहां इस तरहसे आये हो, जैसे तुम्हें किसी वस्तुका अभाव न हो। हां, तुम ख्याल करते हो कि तुम्हें किसी वस्तुका अभाव नहीं है। तुम्हारे धन ऐश्वर्य्य है, सन्तान सन्तति है, सम्भवतः स्त्री भी है, अनेक दास, दासियां भी हैं, सीज़र तुम्हें जानते हैं, रोममें तुम्हारे अनेक बन्धु-बान्धव हैं, यथायोग्य रूपसे तुम अपने अधीनस्थ मनुष्योंके दण्ड और पुरस्कारकी व्यवस्था किया करते हो—जो अच्छा काम करता है उसकी भलाई करते हो और जो बुरा काम करता है उसकी बुराई करते हो। और तुम्हें क्या चाहिये ? अब यदि मैं तुम्हें दिखा दूं कि प्रकृत सुखके लिये तुम्हें जिन सब वस्तुओंकी अत्यन्त आवश्यकता है उनमेंसे कोई भी तुम्हारे पास नहीं है; और जो सब पदार्थ तुम्हारे लिये अत्यन्त आवश्यक हैं, केवल उन्हीं सबको छोड़कर बाकी समस्त वस्तुओंका तुम अबतक अनुसरण करते आये हो; ईश्वर क्या पदार्थ है, मनुष्य क्या पदार्थ है, अच्छा किसे कहते हैं, बुरा किसे कहते हैं, यह तुम नहीं जानते, यह सब यदि मैं तुम्हें दिखा दूं तो तुम्हें असह्य होगा। यदि मैं दूसरी वस्तुओंके संबन्धमें कहूं कि तुम कुछ नहीं जानते, तो शायद वह तुम्हें सह्य होजाय; किन्तु यदि मैं कहूं कि तुम अपनेको

ही आप नहीं जानते, तो तुम्हें कभी सह्य नहीं होगा; ऐसा होनेसे तुम नाराज होकर यहांसे चले जाओगे। किन्तु यह बात कहकर क्या मैंने तुम्हारी कोई बुराई की? एक कुरूप मनुष्यके सामने आइना रखनेसे क्या उसकी बुराई करनी होती है? एक चिकित्सक जब किसी रोगीको कहता है—"बाबू, क्या तुम समझते हो कि तुम्हें पीड़ा नहीं हुई है? मैं देखता हूं कि तुम्हें ज्वर हुआ है। आज कुछ भोजन मत करना, केवल जल पीकर रहना।" ऐसी बातें कहनेपर कोई रोगी तो ऐसा नहीं कहता कि "तुमने मेरा अपमान किया।" किन्तु यदि किसीको कहा जाय—"तुम्हारी चेष्टाएं चित्तदहनकारी है, तुम्हारे पक्षियक्त विषय-समूह नीचतासूचक हैं, तुम्हारे सब उद्देश्य नीतिविरुद्ध हैं, तुम्हारे हृदयके आवेग-समूह प्रकृतिके साथ मेल नहीं खाते, तुम्हारे सब मतामत शून्यगर्भ और मिथ्या हैं" तो वह उसी क्षण बोल उठेगा—"इस आदमीने मेरा अपमान किया है।"

५—किसी एक बड़े मेलेमें लोग जिस प्रकारसे कार्य करते हैं हमलोग भी संसारमें ठीक उसी प्रकारसे कार्य किया करते हैं। मेलेमें गाय भैंस आदि बिक्रीके लिये लाये जाते हैं, अधिकांश मनुष्य भी कोई खरीदनेके लिये और कोई बेचनेके लिये आते हैं। केवल मेला देखनेके लिये कम लोग आया करते हैं। किसलिये मेला स्थापित हुआ है, कौन इसका स्थापनकर्ता है, उसमें क्या काम होते हैं, इन सब तत्वोंको जाननेके लिये बहुत ही कम लोग आते हैं। इस भव-मेलामें भी ऐसा ही होता है। गाय भैंस

आदिकी तरह कोई कोई केवल घास-दाना खानेमें ही व्यस्त रहते हैं। जो लोग केवल धन-जन-ऐश्वर्य्यका ही भोग करते हैं वे गाय भैंस आदिकी तरह केवल घास-दाना ही नहीं खाते तो और क्या। केवल दर्शनका सुख प्राप्त करनेके लिये कम लोग आते हैं संसार क्या पदार्थ है, संसारका कर्त्ता कौन है, यह तत्व जाननेके लिये बहुत ही कम लोग उत्सुक होते हैं।

कोई एक छोटा राज्य, कोई एक सामान्य घर, मालिकके विना, रक्षकके विना, क्षणकाल भी कायम नहीं रह सकता। तब क्या यह इतना बड़ा विश्वनिकेतन केवल दैवद्वारा, आकस्मिक घटना-समूह द्वारा ऐसे उत्तम सुव्यवस्थित रूपसे परिचालित होता है ? अतएव देखा जाता है कि जगतके एक कर्त्ता अवश्य हैं। किन्तु उनका रूप कैसा है ? किस प्रकार वह शासन करते हैं ? और हमी लोग क्या पदार्थ हैं ? किस उद्देश्यसे हम लोग उत्पन्न किये गये हैं ? ईश्वरके साथ हम लोगोंका कोई बन्धन-सूत्र है अथवा कुछ भी नहीं है ?

जो अल्पसंख्यक मनुष्य इन सब तत्त्वोंके अनुसन्धानमें लगे रहते हैं, साधारण लोग उनका उपहास करते हैं। मेलेमें भी दूकानदार लोग दर्शक लोगोंका इसी प्रकार उपहास करते हैं, और गाय भैंस आदिको भी यदि चिन्ताशक्ति होती तो वे भी प्रदर्शकोंका इसी प्रकार उपहास करते; वे निश्चय ही कहते कि इन मूर्खोंने यहां आकर यदि घास-दानाका उपभोग नहीं किया, तो यहां आनेसे उन्हें लाभ ही क्या हुआ ?

नव शिक्षार्थीके प्रति

१—इस बातको सदैव स्मरण रखना कि किसी वस्तु-विशेषको पानेके लिये ही हम लोग उसका अनुसरण किया करते हैं और किसी वस्तुसे बचनेके लिये ही हम लोग उसका त्याग करते हैं। जो आदमी अपनी शक्तिभर उद्योग करके भी उद्दिष्ट वस्तुको पा नहीं सकता और जो आदमी किसी वस्तुसे बचनेका यत्न करता हुआ भी उस वस्तुके बीचमें जा पड़ता है, वह दोनों ही मनुष्य अभागे हैं।

जो सब वस्तुएं तुम्हारे आयत्ताधीन और प्राकृतिक नियमकी विरोधी हैं उनसे यदि अलग रहनेकी तुम चेष्टा करो, तो तुम सफल हो सकोगे। किन्तु जो तुम्हारे आयत्ताधीन नहीं हैं और जो प्रकृतिके अपरिहार्य धर्म हैं—उन दुःख, कष्ट और मृत्युको तुम किसी तरह भी टाल नहीं सकोगे। अतएव उसकी चेष्टासे विरत रहना।

२—कोई वस्तु एकाएक उत्पन्न नहीं होती। और क्या, एक गुच्छा अंगूर और गूलरका फल भी एकाएक उत्पन्न नहीं होता। यदि तुम मुझसे कहो कि "मैं अभी एक गूलर खाना चाहता हूं" तो इसके उत्तरमें मैं कहूंगा—"पहले गूलरका फूल हो, उसके बाद फल हो, उसके बाद वह फल पक ले इत्यादि।" जब देखा जाता है कि एक साधारण गूलरका

फल भी एकबारगी एक घंटेके भीतर ही पूर्णताको प्राप्त नहीं होता, तब क्या तुम ऐसी आशा कर सकते हो कि मनुष्यके मनका फल इतना शीघ्र और इतने सहजमें हस्तगत होगा? मैं यदि तुम्हें कहूं कि, "हां, होगा" तोभी तुम उसकी प्रत्याशा मत करना।

३—मनुष्य-जीवनके प्रकृतिगत उद्देश्यको सिद्ध करना भी एक साधारण बात नहीं है। क्योंकि, "मनुष्य किसको कहते हैं?" तुम कहोगे कि "जो जीव प्राणवान् है, जो मरणाधीन है और जो विवेकबुद्धि-सम्पन्न है वही मनुष्य है।"

"अच्छा, विवेकबुद्धि रहनेके कारण मनुष्य किससे भिन्न है?"

"वनके हिंस्र जन्तुओंसे।"

"और किससे भिन्न है?"

"गाय भैंस आदिसे।"

तब देखो, तुम हिंस्र जन्तुओंकी तरह कोई काम न करना। कारण, तुम यदि उस तरहके काम करोगे तो तुम्हारे भीतर जो मनुष्यत्व है वह विनष्ट होगा, तुम्हारे मानव-जीवनका उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। जिस समय हम लोग कलह विवाद करते हैं, परस्परकी हानि करते हैं, क्रोधसे उन्मत्त होते हैं, उग्र चण्ड मूर्त्ति धारण करते हैं, उस समय हम लोग कितना नीचे गिर जाते हैं?—उस समय हम लोग हिंस्र जन्तुओंके समान हो जाते हैं। जिस समय हम लोग लुब्ध, इन्द्रिय-परायण,

कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञान-शून्य होकर बीभत्स निन्दित कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, उस समय हम लोग कितना नीचे गिर जाते हैं ?—उस समय हम लोग गाय भैंस आदिकी तरह हो जाते हैं। इससे हम लोग क्या खोते हैं ? खोते हैं अपनी विवेक-बुद्धि। मनुष्यकी जो असली चीज है उसीसे भ्रष्ट होते हैं।

४—वीणा यदि वीणाका काम न करे, वंशी यदि वंशीका काम न करे, तो ऐसी अवस्थामें उनका रहना, न रहना, दोनों ही बराबर है। मनुष्यके संबन्धमें भी ऐसा ही कहा जा सकता है। जिसका जो काम है उसी कामको जो जितना कर सकता है, वह उतना ही अपनेको बचा रखता है ; जो जितना उससे विच्युत होता है वह उतना ही आत्मविनाश करता है।

५—किसी विषयमें दृढ़ विश्वास सहजमें ही उत्पन्न नहीं होता। यदि कोई मनुष्य किसी एक ही विषयके संबन्धमें प्रतिदिन बातें कहे बातें सुने और साथही साथ अपने जीवनके कार्यमें भी उसका प्रयोग करे, तभी वह विश्वास उसके मनमें बद्धमूल होता है।

६—प्रथम शिक्षार्थियोंके लिये कोई महान् शक्ति प्राप्त करना विपदजनक है। "किन्तु मुझे तो प्रकृतिके अनुसार चलना होगा।" रोगी मनुष्यके पक्षमें यह बात नहीं घटती। जिसमें पीछे तुम सुस्थ मनुष्यकी तरह रह सको, इस उद्देश्यसे कमसे कम कुछ दिनों तक तुमको रोगी मनुष्यकी तरह चलना होगा ; जिसमें तुम पीछे विवेक-बुद्धिके उपदेशके अनुसार ठीक तरहसे

चल सको, इस उद्देशसे आरम्भमें उपवासादि व्रत और अन्यान्य कठोर नियमोंका पालन करना होगा। तुम्हारे भीतर यदि कुछ अच्छा संस्कार हो और यदि तुम विवेक-बुद्धिकी बात मानकर चलो, तो तुम जो काम करो वही अच्छा होगा। "नहीं, हम लोग ऋषि-मुनियोंकी तरह रहकर लोगोंकी भलाई करेंगे— लोगोंके दोषोंका संशोधन करेंगे।"

"लोगोंकी क्या भलाई करोगे? तुमने क्या अपनी कुछ भलाई की है? दूसरेके दोषका क्या संशोधन करोगे? तुमने अपने दोषका क्या संशोधन किया है? तुम यदि उन लोगोंकी भलाई करना चाहो, तो उनके पास जाकर बहुतसा बकवाद मत करना; बल्कि तत्वज्ञानकी शिक्षाके फलसे किस प्रकार मनुष्य तैयार होता है, उसीका उदाहरण अपने जीवनमें दिखाओ। जो लोग तुम्हारे साथ भोजन करते हैं वे जिसमें तुम्हारा भोजन देख कर अच्छे हो सकें; जो लोग तुम्हारे साथ पान करते हैं वे जिसमें तुम्हारा पान करना देखकर अच्छे हो सकें, तुम वैसा ही करो। आत्मत्याग स्वीकार करो, सबको रास्ता दे दो, सबकी बातों और आचरणोंको सह लो। इसी प्रकारसे तुम उन लोगोंकी भलाई कर सकोगे; उन लोगोंके ऊपर क्रोध उगलकर उनपर कटु वाक्योंकी वर्षा करके तुम उन लोगोंकी भलाई नहीं कर सकोगे।"

आत्मोन्नतिकी तीन सीढ़ियां

१—तत्वज्ञान तीन भागोंमें विभक्त है। जो लोग ज्ञानी और साधु होनेकी इच्छा रखते हैं उन्हें इन तीन विभागोंमें साधना और अभ्यास करना आवश्यक है।

विषयका अनुसरण और विषयका त्याग यह प्रथम विभागका विषय है। जो मैं चाहता हूं उसे प्राप्त करूं, जो मैं नहीं चाहता उसके बीचमें न जा पडूं—यही हम लोगोंका चेष्टा है।

अपने मनकी वासना और विद्वेष—यही द्वितीय विभागका विषय है। वासना या विद्वेषके वशवर्त्ती न होकर जो मनुष्योचित है उसी कार्यकी ओर सावधानी, सुव्यवस्था और विवेचना सहित अग्रसर होना होगा। दिक्-विदिक् ज्ञानशून्य होकर कोई कार्य नहीं करना होगा। इसीको चारित्र्य कहते हैं।

तीसरे विभागका विषय यह है कि जिसमें विभ्रम उपस्थित न होने पावे, इस विषयमें सतर्क रहना। सब विषयोंको भीतर डूबकर देखनेकी चेष्टा करना; बाहरी आकारपर केवल न भूलना—यही विवेकबुद्धि है।

पहली बात—किसी प्रिय वस्तुकी प्राप्ति अथवा किसी अप्रिय वस्तुका त्याग न कर सकनेपर उसीसे हम लोगोंका दुःख सुख उत्पन्न होता है। यह विषय बड़ा ही कठिन है। हम लोगोंके समस्त

उद्वेग, अशान्ति, दुःख-दुर्दशा, शोक-सन्ताप, विरह-विलापका कारण यही है। इस मौकेपर कामके वशवर्त्ती होकर हम लोग विवेक की बात नहीं सुन सकते।

दूसरी बात—जो कुछ मनुष्योचित है वही हम लोगोंको करना होगा। इसी कारणसे पत्थरकी मूर्त्तिकी तरह हृदयशून्य होकर रहना नहीं होगा। ईश्वराधीन जीवका जो कर्त्तव्य है, पुत्रका जो कर्त्तव्य है, पिताका जो कर्त्तव्य है, नागरिकका जो कर्त्तव्य है—इन सभी कर्त्तव्य-समूहोंका हम लोगोंको पालन करना होगा। स्वाभाविक अथवा अर्जित जिस किसी संबन्धके बन्धनमें हम लोग आपसमें आबद्ध हुए हैं उन सब सम्बन्धोंकी हम लोगोंको यत्नपूर्वक रक्षा करनी होगी।

तत्त्वज्ञानमें कुछ दूरतक अग्रसर होनेपर हम लोग तृतीय विभागके अधिकारके भीतर आ पड़ते हैं। अन्य दो विभागोंके कार्य किस प्रकार सुरक्षित हो सकते हैं, किस प्रकार बिना विघ्न-बाधाके सम्पादित हो सकते हैं, इसीका उपदेश इस तृतीय विभागका विषय है। संक्षेपमें इसका तात्पर्य यही है:—किसी वस्तुको हम लोग बिना परीक्षाके ग्रहण नहीं करेंगे; बिना परीक्षाके किसी भी वासनाके प्रलोभनको अपने मनमें स्थान नहीं देंगे। क्या कोई कह सकता है कि यह हम लोगोंके लिये असाध्य है?

देखता हूं कि आजकलके तत्त्वज्ञानी लोग उपर्युक्त दोनों विभागोंको छोड़कर इस तीसरे विभागको लेकर ही व्यस्त रहते

हैं। उन लोगोंका जो कुछ तर्क वितर्क, वाद-वितण्डा, सिद्धान्त-स्थापन और हेत्वाभास प्रदर्शन है वह सब इसी विभागको लेकर हुआ करता है। वह लोग कहते हैं कि सिद्धान्त-निर्णयके समय सतर्कताके साथ अपनेको विभ्रमसे बचाना चाहिये। किन्तु जो व्यक्ति ज्ञानी और साधु है वही अपनेको विभ्रमसे बचा सकेगा अथवा और कोई?

२—तब क्या केवल अपनेको विभ्रमसे बचाना—केवल एक यही तुम लोगोंको अब करनेके लिये बाकी है? तुम लोगोके और सब कार्य हो चुके हैं? तुम लोगोंको क्या अब धनका लोभ नहीं होता? किसी सुन्दरी स्त्रीको देखकर क्या तुम विचलित नहीं होते? तुम्हारा कोई पड़ोसी यदि उत्तराधिकार-सूत्रसे किसी सम्पत्तिका अधिकारी हो तो क्या तुम्हारे मनमें ईर्षा नहीं होती? संक्षेपत क्या और कुछ तुम लोगोंके करनेको बाकी नहीं है? तुमने साधनासे जो कुछ प्राप्त किया है, क्या अब केवल उसको सुदृढ़ करनेका ही तुम लोगोंका एकमात्र प्रयोजन है?

हतभाग्य! इन सब बातोंको सुनते सुनते ही तो तुम भीत और उद्विग्न हो रहे हो कि शायद पीछे कोई तुम्हारा अनादर करे—तुम यह जाननेके लिये उत्सुक हो रहे हो कि कौन तुम्हारे संबन्ध-में क्या बात कहता है। आजकल सर्व्वश्रेष्ठ तत्वज्ञानी कौन है?—इस बातकी आलोचनाके समय यदि उस सभामें उपस्थित कोई आदमी तुम्हारा नाम लेकर कहे कि "अमुक व्यक्ति सर्व्वश्रेष्ठ तत्वज्ञानी है"—तो तुम मन ही मन फूलकर कुप्पा

हो जाओगे। किन्तु यदि उसी सभामें कोई दूसरा आदमी बोले - "वह कुछ भी नहीं है– उसकी बात सुननेके योग्य नहीं है, वह क्या जानता है ? उसने तो अभी तत्वज्ञानका आरम्भमात्र किया है—उसे अधिक कुछ भी नहीं आता।"- -तो तत्क्षण तुम विस्मयसे स्तम्भित हो जाओगे, तुम्हारे चेहरेका रङ्ग बदल जायगा और तुम बोल उठोगे "मैं उसे एकबार दिखा देना चाहता हूं कि मैं कैसा आदमी हूं। मैं जो एक बड़ा तत्वज्ञानी हूं, यह बात मैं उसके निकट प्रमाणित कर दूंगा।"

बस, बहुत हुआ, और प्रमाणकी आवश्यकता नहीं ; तुम कैसे तत्वज्ञानी हो यह तुम्हारी इन बातोंसे ही स्पष्ट जाना जाता है।

जीवनका खेल
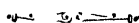
१—जो उचित है और जो कार्य्योपयोगी है इन दोनोंका शक्तिसम्मिलन और ऐक्यबन्धन ही प्रकृतिका प्रधान कार्य है।

२—बाह्य वस्तु हम लोगोंकी उपेक्षाका विषय है, किन्तु बाह्य वस्तुका व्यवहार और प्रयोग उपेक्षाका विषय नहीं है। तब किस उपायसे मनकी अविचलता और शांति तथा बाह्य विषयके सम्बन्धमें यत्नशीलता-इन दोनोंकी एक साथ रक्षा की जा सकती है? किस उपायसे अनवधानताका वर्ज्जन किया जा सकता है? यहांपर चौपड़ खेलनेवालोंका उदाहरण ग्रहण करो। पासेके 'दाने' भी अप्रधान हैं और पासेकी गोटियां भी अप्रधान हैं। मेरे पासेमें कितने दाने पड़ेंगे यह मैं कैसे कह सकता हूं? किन्तु जितने दाने पड़े उनका उपयुक्त प्रयोग करना—यही असली खेल है। विचारपूर्व्वक सब बाह्य विषयोंका निर्व्वाचन और विभाग करके इस प्रकार कहना—"बाह्य वस्तुएं मेरे अधिकारमें नहीं हैं, इच्छाशक्तिका प्रयोग करना ही मेरे अधिकारमें है"—यही जीवनका प्रधान कार्य है। मैं अच्छेको कहां खोजूंगा और बुरेको कहां खोजूंगा? अपने अन्दर जो मेरी अपनी चीज है उसीके भीतर। किन्तु जो तुम्हारी अपनी चीज नहीं है उसको अच्छा भी मत कहो और बुरा भी मत कहो, इष्ट-

जनक भी मत कहो, अनिष्टजनक भी मत कहो, उसके सम्बन्धमें उस प्रकारके किसी भी शब्दका प्रयोग मत करो।

३—तब क्या इन सब विषयोंमें अयत्नशील और असावधान होऊंगा? किसी प्रकारसे भी नहीं। यह भी एक प्रकारका इच्छा शक्तिगत पाप और फलतःप्रकृतिके विरुद्ध है। सावधान और यत्नशील होना होगा, क्योंकि बाह्य वस्तुओंका प्रयोग उपेक्षाका विषय नहीं है; किन्तु उसके साथ ही साथ अविचलित और शांत रहना होगा, क्योंकि बाह्य वस्तु स्वयं उपेक्षाका विषय है। मेरे साथ जिसका प्राकृतिक सम्पर्क है उसके विषयमें कोई मुझे बाधा दे अथवा वाध्य कर नहीं सकेगा। किन्तु जिन सब वस्तुओंके द्वारा मैं वाधित और वाध्य हुआ करता हूं, जिनकी सम्प्राप्ति मेरे अधिकारमें नहीं है, वह अच्छी भी नहीं हैं, बुरी भी नहीं। किन्तु उन सब वस्तुओंके प्रयोगपर ही भलाई और बुराई निर्भर करती है और वही मेरे अधिकारमें है। विषयानुरागीकी यत्नशीलता और विषय विरागीकी अविचलता—इन दोनोंका मेल और एकत्व-साधन बड़ा ही कठिन है इसमें सन्देह नहीं; किन्तु इसीसे यह असाध्य अथवा असम्भव नहीं कहा जा सकता; यदि यह असम्भव हो, तो मनुष्यके लिये सुखी होना भी असम्भव है।

४—मुझे एक ऐसा आदमी दिखाओ जिसकी दृष्टि केवल इसीपर हो कि किसी एक कामको किस प्रकारसे करना होगा; जो मनुष्य किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये लालायित न हो परन्तु अपनी इच्छाशक्तिका प्रयोग करनेके लिये उत्सुक हो।

५—इसीसे क्रिसिपसने यह बातें बहुत ही अच्छी कही थीं—"जितने दिनोंतक भविष्यत् मेरे निकट प्रच्छन्न रहता है उतने दिनोंतक प्रकृतिकी अनुयायी वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये जो अवस्था सर्वापेक्षा अनुकूल होती है उसीका मैं अनुसरण किया करता हूं; कारण, ईश्वरने मुझे इस प्रकारके निर्व्वाचनका अधिकार दिया है। किन्तु मुझे यदि यह मालूम हो कि ईश्वरने मुझे पीड़ित होनेकी आज्ञा दी है, तो मैं आप हो उस ओर अग्रसर होऊंगा। यही क्यों, मेरे दोनों पावोंमें भी यदि बुद्धिवृत्ति होती तो वे भी आप ही आप आगे बढ़कर कीचड़में फंस जाते।"

६—धानसे बाल जो बाहर होते हैं वे किसलिये?—सूखनेके लिये ही कि नहीं? और किसान लोग उन्हें काटेंगे, केवल इसीलिये क्या वे नहीं सूखते? क्योंकि अपने लिये जीवन धारण करनेके निमित्त वे पृथ्वीपर नहीं आते। अतएव उनको यदि ज्ञान होता, तो किसान लोग जिसमें उन्हें न काटें, ऐसी प्रार्थना करनी क्या उनके लिये उचित होती? क्योंकि धानका नहीं काटा जाना धानके लिये घोर अभिशाप है। इसीप्रकार समझ लो कि बिना काटे हुए धानकी तरह मनुष्यका नहीं मरना भी मनुष्यके लिये घोर अभिशाप है, क्योंकि हम लोग भी एक प्रकारसे काटे जाने योग्य वस्तु हैं। तब, हम लोग जानते हैं कि हम लोग काटे जायंगे, इसीसे हम लोग इतना दुःख प्रकाश किया करते हैं। घोड़ेकी भलाई-बुराई किस बातमें है, इसे घोड़ेका पालनेवाला जिस तरह समझता है, हम लोग उस

तरह अपनेको नहीं समझते—समस्त मनुष्यजातिकी भलाई-बुराई किसमें है सो हम लोग नहीं समझते। किन्तु क्रिसाएटस् जिस समय शत्रु पर शस्त्र प्रहार करनेको तैयार हुआ उसी समय सेनापतिने तुरही बजाकर उसे लौट आनेकी आज्ञा दी उस तुरहीका शब्द सुनकर क्रिसाएटस् शत्रुको मारनेसे रुक गया। अपनी इच्छाके अनुसार कार्य करनेकी अपेक्षा सेनापतिकी आज्ञाका पालन करना उसे इतना अच्छा मालूम हुआ था। किन्तु हम लोगोंमेंसे कोई भी अवश्यम्भाविताकी आज्ञाको खुशीसे पालन करना नहीं चाहता। हम लोग रोते रोते, आर्तनाद करते करते, दुःख कष्ट सहा करते हैं और उन सब कष्टोंको प्रारब्धका फल कहा करते है। पर प्रारब्ध क्या है? यदि भवितव्यताको ही प्रारब्ध कहो, तब तो सभी विषयोंमें हम लोग प्रारब्धके अधीन हैं। किन्तु यदि मृत्युको ही प्रारब्ध कहा जाय, तो जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु होगी ही—फिर इसमें दुःख किस बातका? हम लोग खड्ग-प्रहारसे मरें, चक्कीमें पिसकर मरें, जलमें डूबकर मरें, घरकी छतसे टूटकर गिरी हुई शहतीरकी चोटसे मरें, चाहे अत्याचारी राजाके हाथसे मरें—किसी भी पथसे क्यों न यमलोकको जायं, इसमें हम लोगोंका क्या आता जाता है? सभी पथ समान हैं। किन्तु यदि सच्ची बात सुनना चाहो, तो कहूंगा कि अत्याचारी राजा जिस पथसे तुम्हें यमलोकको भेजता है वही सबसे सीधा पथ है। अबतक किसी भी राजाने किसीको "छः महीने तक फांसी" नहीं दी;

किन्तु ज्वररोग आदमीको महीनोंतक वध किया करता है। फलतः यह सब व्यापार केवल वाक्याडम्बरमात्र—नामका झङ्कार-मात्र है।

७—किन्तु समुद्रयात्राके समय हम लोग जिस तरह करते हैं, आओ इस समय भी हम लोग उसी तरह करें। उस समय हम लोगोंके लिये क्या करना सम्भव है?—हम लोगोंके लिये यही करना सम्भव है कि जहाजके सारङ्ग, जहाजके खलासी, यात्राका सुयोग इत्यादिका निर्व्वाचन कर लें। उसके बाद मान लो कि एक तूफान आ गया तो उससे क्या होता जाता है? हमारे लिये जो कुछ करना आवश्यक था उसमें तो हमने कुछ बाकी नहीं रखा। अब उपस्थित समस्याकी चिन्ताका भार और एक आदमीपर अर्थात् सारङ्गपर है। किन्तु जहाज जो डूबा जा रहा है! उसके लिये मैं क्या करूंगा? इस समय मुझे और क्या करना है? मेरे वशकी जो बात है वही मैं कर सकता हूं—ईश्वरका तिरस्कार न करके, वावैला न मचाकर निर्भय चित्तसे जलमग्न हो सकता हूं। मैं केवल इतना ही जानता हूं कि जिसने जन्म लिया है उसका मरण अवश्य होगा। मैं अमर नहीं हूं, मैं जगतका एक अंशमात्र हूं, जैसे दिनका एक अंश मुहूर्त है। मुहूर्त्तकी भांति आया हूं, मुहूर्त्तकी भांति चला जाऊंगा। अतएव किस प्रकार चला जाऊंगा—जलमें डूबकर अथवा ज्वरसे पीड़ित होकर—इसकी कुछ परवा नहीं; क्योंकि मुझे तो चले जानेसे मतलब है, चाहे जिस प्रकार जाना हो।

तुम देखोगे कि चतुर बाजीगर लोग इसी प्रकार क्रिया करते हैं। गोलेको वे प्रधान वस्तु नहीं मानते, किस प्रकार गोला फेंकना होगा और किस प्रकार उसे पकड़ना होगा, इसीकी निपुणतापर खेलकी उत्कृष्टता या निकृष्टता निर्भर करती है। इस गोलेके खेलमें नियमका बन्धन है, चतुराई है और बुद्धि-विवेचनाका भी प्रयोजन है। अपनी गोद पसारे रहनेपर भी सम्भवतः हम गोलेको नहीं पकड़ सकेंगे ; किन्तु एक दूसरा आदमी अनायास ही मेरे फेंके हुए गोलेको धर लेगा। किन्तु यदि मैं गोलेको फेंकते समय ही आकुल व्याकुल हो उठूं तो मेरा खेल कैसे होगा? किस प्रकार मैं स्थिर होऊंगा? खेलके क्रमको कैसे ठीक रख सकूंगा?

८—किस प्रकार गोला खेलना होता है, यह बात सुकरात अच्छी तरह जानते थे। सो कैसे? जब वह विचारालयमें उपस्थित हुए थे उस समय उन्होंने उपहास करके कहा था, "देखो थानिटस्, तुमने ऐसी बात कैसे कही कि मैं ईश्वरका विश्वास नहीं करता, 'डेमन'-लोगोंको (प्रेतात्माओंको) तुम क्या ठहराते हो? वह सब क्या ईश्वरके पुत्र अथवा देवता और मनुष्यके बीचवाले एक प्रकारकी मिश्र प्रकृतिके जीव नहीं हैं?" इस बातके स्वीकृत होनेपर वह फिर बोले—"घोड़ेसे भिन्न है किन्तु गधा नहीं है, इस प्रकारका अभिमत क्या तुम्हारी समझमें किसीका हो सकता है?" इसी प्रकार सुकरातने गोला खेला था। किस प्रकारके गोले उन्होंने उन लोगोंके बीचमें फेंके थे?—जीवन,

बन्धन, निर्व्वासन, विष,स्त्री-विच्छेद,त्यागा हुआ अनाथ बालक। इन्हीं सब गोलोंको लेकर उन लोगोंने खेल खेले थे, किन्तु सुकरातने भी कुछ कम खेल नहीं खेले बहुत सुन्दर रीतिसे, वजन समझकर खेले थे। हम लोगोंके लिये भी उसी प्रकार करना उचित है। चतुर बाजीगर गोला फेंकने और धरनेके समय जिस प्रकार सावधान और यत्नशील होता है हम लोगोंको भी उसी तरह सावधान और यत्नशील होना होगा, किन्तु स्वयं गोलेके सम्बन्धमें उदासीन रहना होगा।'

भय और अभय

१—"कोई आदमी डरपोक और निडर दोनों साथ ही साथ हो सकता है।"—तत्वज्ञानियोंकी यह उक्ति किसी किसीको परस्पर विरुद्धसी प्रतीत होती है। अच्छा, एक बार आलोचना करके देखा जाय कि हम लोगोंके पक्षमें यह सम्भव है या नहीं। साधारणतः यह अवश्य ही मनमें आता है कि भय निर्भीकताका विरोधी है, अतएव यह दोनों परस्पर-विरोधी भाव कभी एक साथ रह नहीं सकते। किन्तु जो बात बहुतोंको परस्पर विरोधी मालूम होती है उसको मैं इस प्रकार देखता हूं:—

इसके पहले यह अनेक वार सिद्ध किया जा चुका है कि जो सब विषय हम लोगोंके इच्छाधीन या शक्तिके भीतर हैं उन्हींके उपयुक्त प्रयोगपर हम लोगोंकी भलाई बुराई निर्भर करती है. जो हम लोगोंके इच्छाधीन या शक्तिके भीतर नहीं हैं—जो अनिवार्य हैं, जिनसे हम पार नहीं पा सकते—वे हम लोगोंके लिये अच्छे भी नहीं हैं और बुरे भी नहीं हैं।" यह बात यदि सत्य हो, तब यदि कोई तत्वज्ञानी कहे कि "जो सब विषय हम लोगोंके इच्छाधीन नहीं हैं उनके विषयमें निडर रहना और जो सब हम लोगोंके इच्छाधीन हैं उन्हीं सबके लिये भय करना"—तो इस बातमें अनौचित्य क्या है? यदि बुरी वासनाके ऊपर हम

लोगोंकी बुराई निर्भर करती है तो केवल उसी विषयमें हम लोगोंको डरना उचित है और जो विषय हम लोगोंके इच्छाधीन या शक्तिके भीतर नहीं है उसके सम्बन्धमें निर्भीक रहना हम लोगोंका कर्तव्य है। केवल यही नहीं, ऐसे मौकेपर हम लोग भयके भावसे ही साहस प्राप्त करते हैं। जो सचमुच बुरा है उसे करनेमें हमें भय होता है, इसीसे जो बुरा नहीं है उसके विषयमें हम लोग निर्भय होते हैं।

२—किन्तु इसके विरुद्ध हम लोग हरिणकी तरह व्यर्थ भयभीत होकर विपत्तिके ग्रासमें पड़ जाते हैं। हरिणको जब भय होता है और वह डरकर भागनेकी चेष्टा करता है तब वह निरापद् स्थान समझ किस जगह जाकर आश्रय ग्रहण करता है?—व्याध जो जाल फैला रखता है उसी जालके भीतर। इसी तरह वह मृत्युके मुखमें पड़ जाता है। कारण, वह यह नहीं जानता कि किस जगह भय करना होता है और कहां निर्भय रहना होता है। हम लोग विना जाने बूझे साधारणतः किस विषयमें भयभीत हुआ करते हैं?—उसी विषयमें तो जो हम लोगोंको इच्छाशक्तिके परे है। और भयको सम्भावना नहीं है, ऐसा समझकर हम लोग किस विषयमें निर्भय रहते हैं?—उसी विषयमें जो हम लोगोंकी इच्छाके अधीन है। किसी प्रलोभनके मोह और विडम्बनामें पड़कर कोई नासमझीका काम या लज्जाजनक निन्दित काम करना, अथवा नीच लोभके वशीभूत होकर किसी वस्तुका अनुसरण करना—यह सब वास्तविक भयके

विषय हैं या नहीं, इस सम्बन्धमें हम लोग एक बार भी विचार करके नहीं देखते। हम लोगोंका जो कुछ भय है सो केवल उसी विषयमें जो हम लोगोंकी इच्छा-शक्तिके परे है।

जो मृत्यु अपरिहार्य है, जिन सब दुःखोंको टालना शक्तिके बाहर है, उन्हींसे हम लोग डरते हैं और डरकर भागनेकी चेष्टा करते हैं। अपने स्वाभाविक साहसका अनुचित स्थानमें प्रयोग करके, कर्त्तव्याकर्त्तव्य-ज्ञानसे रहित होकर, हम लोग बड़ी निर्लज्जताके साथ पापके हाथमें सम्पूर्णरूपसे आत्मसमर्पण कर देते हैं और उसको कायरता, नीचता, अन्ध-आतङ्क तथा दुःखकातरतामें परिणत कर देते हैं। यदि हम लोग अपने भयके भावको इच्छा-राज्यके अन्दर ला सकें तो हम भयके विषयका इच्छापूर्वक निवारण भी कर सकते हैं। किन्तु जो विषय हम लोगोंकी इच्छाके अधीन नहीं है उससे डरनेपर हम लोग इच्छा करनेपर भी उसका निवारण नहीं कर सकते। फलतः व्यर्थ भयसे विचलित होकर हम लोग बेमतलब कष्ट पाते हैं।

मृत्यु भी भयङ्कर नहीं और दुःख भी भयंकर नहीं, परन्तु दुःख और मृत्युका भय ही भयङ्कर है। इसलिये हम उस कविकी प्रशंसा करते हैं जिसने कहा था—

"मृत्युसे मत भूलकर भी तुम डरो,
कायरोंकी मृत्युका ही भय करो।"

३—अतएव मृत्युसे न डरकर मृत्युके भयसे ही डरना उचित है। किन्तु हम लोग ठीक इसके विरुद्ध आचरण करते

हैं। हम लोग मृत्युसे भागते हैं, किन्तु मृत्यु क्या चीज है इस विषयमें तनिक भी विचार करके नहीं देखते—इस विषयमें हम लोग एकदम उदासीन रहते हैं। सुकरातने इन विषयोंको "हौआ" कहा था। उनका कहना बहुत ही ठीक था। कारण, विकराल चेहरा केवल अबोध बालकोंको ही भीषण और भयङ्कर मालूम होता है। यह "हौआ" देखकर छोटे बच्चे जैसे डर जाते है, ठीक वैसे ही हम लोग भी संसारकी किसी किसी घटनासे भय-विह्वल हो उठते हैं। बच्चा क्या है?—बच्चा मूर्त्तिमान अज्ञानताका नामान्तरमात्र है। जिसने कुछ भी शिक्षा प्राप्त नहीं की वही बच्चा है। कारण, बालक भी यदि शिक्षित हो, ज्ञानवान हो, तो फिर वह बालक नहीं रह जाता, उस समय वह हम लोगोंकी बराबरीमें ही आ जाता है। मृत्यु क्या है? -मृत्यु एक "हौआ" है। उसे हिला डुलाकर देखो, परीक्षा करके देखो; देखो तो कि वह तुम्हें काटती है या नहीं। चाहे शीघ्र हो या विलम्बसे हो, एक समय यह शरीर आत्मासे अलग होगा—पहले भी हुआ था। यदि अभी ही अलग हो तो इसके लिये तुम इतनी नाखुश क्यों होते हो? यदि अभी अलग न भी हो, तो कुछ समयके बाद तो होगा ही। अच्छा, इस प्रकार अलग होनेका कारण क्या है?—उद्देश्य क्या है?—कालचक्रका भ्रमणकाल जिसमें सम्पूर्ण हो, यही इसका उद्देश्य है। कारण, वर्त्तमान, भविष्यत् और अतीत यह तीनों ही इस संसारके लिये आवश्यक हैं।

दुःख क्या है?—दुःख भी एक "हौआ" ही है। उसे हिला

डुलाकर देखो, परीक्षा करके देखो। प्रकृति इस बेचारे शरीरको एक एक बार कभी धीरेसे और कभी जोरसे झकझोर देती है। यदि इससे कुछ फल नहीं समझते, तो मृत्युका द्वार तो खुला ही है। यदि समझते हो कि इससे कुछ लाभ है तो सह लिया करो। सब समय दरवाजा खुला रखना ही अच्छा है, ऐसा होनेसे फिर कोई कष्ट उठाना नहीं पड़ता।

४ तब क्या मेरा अस्तित्व नहीं रहेगा? अवश्य रहेगा, किन्तु संसारके प्रयोजनके अनुसार दूसरे रूपमें रहेगा। तुम स्वयं अपने समयके अनुसार तो इस पृथ्वीपर नहीं आये, संसार-को जब आवश्यकता हुई तभी तुम आये हो।

५—इस मतके अनुसार चलनेसे क्या लाभ होगा? जिन लोगोंने वास्तविक शिक्षा प्राप्त की है उन लोगोंके निकट जो सबसे सुन्दर और उपयोगी है—वही शान्ति, वही निर्भयता, वही स्वाधीनता रूपी फल प्राप्त होगा। साधारण लोगोंकी धारणा है कि जो लोग दास-श्रेणीके अन्तर्गत नहीं हैं, जो लोग स्वाधीन हैं उन्हींको शिक्षा देना उचित है। किन्तु तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं कि जिन लोगोंने सुशिक्षा प्राप्त की है केवल वे ही स्वाधीन हैं। इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ यही है—अपनी इच्छाके अनुसार रह सकना, काम कर सकना। इसके सिवा क्या स्वाधीनताका और कोई अर्थ है? नहीं, और कोई भी अर्थ नहीं है। अच्छा, तो पापके कार्यमें लिप्त रहनेकी ही तुम्हारी इच्छा है? नहीं, हमारी यह इच्छा नहीं है।

इसीसे कहता हूं कि वे कभी स्वाधीन नहीं हैं जो भय-विह्वल, शोक-कातर अथवा उद्विग्न-चित रहते हैं। वे ही प्रकृत स्वाधीन हैं जो दुःख-शोक, भय-उद्वेग, पाप तापसे मुक्त हो गये हैं।

जैसाका तैसा

१—छोटा या बड़ा जो कोई पदार्थ चित्तका आकर्षण करे, कोई विशेष सुविधा प्रदान करे, अथवा जिस पदार्थको तुम अच्छा समझो—उसके सम्बन्धमें जब कोई बात कहो तब वह जैसा हो ठीक वैसा ही कहो, इसका सदैव ध्यान रखना। तुम यदि एक मिट्टीके घड़ेको अच्छा समझते हो, तो यही विचारना कि "मैं एक मिट्टीके घड़ेको अच्छा समझता हूं।" क्योंकि इस प्रकार विचार करनेसे वह यदि टूट जाय, तो तुम्हें कष्ट न होगा।

२-किसी कार्यमें हाथ डालनेके पहले विचारकर देख लेना कि तुम क्या करने जाते हो। यदि किसी तीर्थमें स्नान करने जाओ, तो वहां जो सब बातें होती हैं उन सबको अपने मानस-पट-पर अङ्कित कर लेना, वहांकी भीड़भाड़; धक्काधुक्की, मारामारी, चोरीचमारी इत्यादि सब बातोंकी पहले ही अपने मनमें कल्पना करके देख लेना। ऐसा करनेसे तुम और भी निर्भय और निश्चिन्त मनसे उस कार्यमें प्रवृत्त हो सकोगे। उस समय तुम स्पष्ट कर सकोगे कि "मैं तीर्थमें स्नान करना चाहता हू और प्रकृति-का अनुगामी होकर मैं अपने उस सङ्कल्पको सिद्ध करूंगा।" हम लोगोंके प्रत्येक कार्यके सम्बन्धमें यही बात लागू होती है। कारण, यदि तुम्हारे तीर्थस्नानके समय कोई विघ्नबाधा उपस्थित

हो, तो उसी समय तुम्हारे मनमें होगा कि "केवल तीर्थस्नान ही एकमात्र उद्देश्य नहीं था, बल्कि मेरा विचार यह था कि प्रकृतिका अनुवर्त्ती होकर अपने इस उद्देश्यको सिद्ध करूंगा। किन्तु वहांकी घटना देखकर यदि मैं नाराज होऊं तो अपने उस उद्देश्यको सिद्ध नहीं कर सकूंगा।"

३ साधारण आदमी और तत्वज्ञानीमें पहला भेद यही है कि साधारण आदमी इस तरह कहा करते,—है "हाय! हाय!! मेरी सन्तानका, मेरे भाईका, मेरे पिताका सर्व्वनाश हुआ!" किन्तु तत्वज्ञानीको कभी लाचार होकर "हाय! हाय!!" कहना ही हो तो वह अपनेको सम्हालकर वाक्यको इस प्रकार समाप्त करता है— "मेरी आत्माका सर्व्वनाश हुआ।" इच्छा-शक्तिमान आत्माको और कोई बाधा नहीं दे सकना, अथवा और कोई उसका अनिष्ट नहीं कर सकता—आत्मा ही आत्माका बाधक और शत्रु है। अतएव कष्टके समय यदि हम अपनेको ही दोषी ठहरावें और यह बात स्मरण रखें कि हम लोगोंके मनका संस्कार ही हमारे कष्ट और उद्वेगका एकमात्र कारण है तो समझना कि हम साधन-पथपर कुछ अग्रसर हुए हैं। किन्तु इस समय जैसा देखते हैं उससे भिन्न पथपर हम लोग आरम्भसे ही चलते आये हैं। लड़कपनमें लापरवाहीसे चलते चलते यदि हम लोग किसी पत्थरसे टकराकर कभी गिर पड़ते, तो धाई उसके लिये हमारा तिरस्कार न करके उस पत्थरके टुकड़ेको ही मारती थी। किन्तु उस पत्थरके टुकड़ेका क्या दोष? तुम्हारे बच्चेकी नासमझीके कारण क्या उसे

रास्ता छोड़कर हट जाना उचित था ? और भी देखो, स्नान करके आनेपर यदि कभी हम लोगोंको कुछ खानेके लिये नहीं मिलता, तो हमारे गुरूजी कभी हमें अपनी वासनाको दमन करनेको नहीं कहते, बल्कि वह रसोइयेको ही पीटते थे। महाशय, तुम्हें तो हमने रसोइयेको शिक्षा देनेके लिये नियत नहीं किया था, अपने बच्चे के शिक्षकके पदपर ही तुम्हें नियुक्त किया था—जिसमें लड़केकी सुशिक्षा, सदभ्यास और उन्नति साधित हो वही तुम्हारे देखनेकी बात थी। इसी प्रकार जवान होनेपर भी हम लोग लड़केकी तरह आचरण करते हैं। कारण, सङ्गीतमें बच्चा कौन है ?—जो सङ्गीत नहीं जानता। लिखने-पढ़नेमें बच्चा कौन है ?—जिसे अक्षरका बोध नहीं हुआ। जीवनमें बच्चा कौन है ?—जो तत्वज्ञानमें अशिक्षित है।

४—वस्तु-समूह मनुष्यको कष्ट नहीं देता, परन्तु उसके सम्बन्धमें मनुष्यका जो संस्कार है वही उसे कष्ट देता है। देखो, मृत्यु आनेपर तनिक भी भयङ्कर नहीं है; यदि भयङ्कर होती तो सुकरातको भी भयङ्कर प्रतीत होती। किन्तु मृत्युके सम्बन्धमें हम लोगोंका जो संस्कार है वही भयङ्कर है—उसकी जो कुछ भयङ्करता है वह हमारे उस संस्कारके भीतर ही है। अतएव जब हम लोगोंके मार्गमें कोई बाधा उपस्थित होती है, किसी कष्टमें पड़ते हैं अथवा शोक-दुःखसे अभिभूत होते हैं, तब उस समय हमें स्मरण रखना चाहिये जिसमें हम अपनेको छोड़कर—अर्थात अपने संस्कारको छोड़कर—और किसीको भी दोष न दें।

जो आदमी तत्वज्ञानमें अशिक्षित है उसे कोई कष्ट होनेपर वह दूसरेको दोषी ठहराता है। जिसने शिक्षा आरम्भ की है वह अपनेको ही दोषी ठहराता है और जो सुशिक्षित हो गया है वह न दूसरेको दोषी ठहराता है और न अपनेको दोषी ठहराता है।

५ जो उत्कृष्टता तुम्हारी अपनी वस्तुमें नहीं है उसके विषयमें कभी उत्फुल्ल चित्त न होना। यदि तुम्हारा घोड़ा उत्फुल्ल-चित्त होकर कहे कि "मैं सुन्दर हूं" तो यह बात भले ही सुन ली जाय; किन्तु यदि तुम उत्फुल्ल-चित्तसे कहो कि "हमारे पास एक सुन्दर घोड़ा है" - तो समझना कि जिस उत्कृष्टतापर तुम फूलते हो वह उत्कृष्टता तुम्हारे घोड़ेकी है, तुम्हारी नहीं। अच्छा, तुम्हारी अपनी वस्तु क्या है ? वह यह है—बाहरी वस्तुओंके समूहका यथायोग्य प्रयोग करना। अतएव जब तुम प्राकृतिक नियमानुसार बाहरी वस्तुओंका प्रयोग कर सको तभी तुम उत्फुल्ल होना; क्योंकि जो उत्कृष्टता तुम्हारी अपनी वस्तु है उसीके लिये तुम उत्फुल्ल हो सकते हो।

ज्ञानी और अज्ञानका भय

१- जब किसी पदार्थकी छाया हमारे मनपर पड़ती है तब पहले हम लोग उसके बाहरी रूपपर ही आसक्त या मोहित हो जाते हैं। उसमें हम लोगोंकी इच्छा-शक्तिका कोई वश नहीं रहता। वह हम लोगोंके अधिकारके बाहर है। इन पदार्थ-समूहमें एक ऐसी निजस्व शक्ति है कि वह पहले ही बलपूर्वक हम लोगोंके हृदयमें एक मिथ्या प्रतीति उत्पन्न कर देती है। किन्तु इन प्रतीतियोंकी सत्यताके सम्बन्धमें बुद्धिका अनुमोदन चाहिये—यह अनुमति देना या न देना मनुष्यकी इच्छा-शक्तिके अधीन है। आकाशमें एक बड़ा भारी शब्द हुआ, एकाएक किसी वस्तुका पतन हुआ, किसी विपद्की पूर्व-सूचना हुई, अथवा इसी प्रकारका और कुछ हुआ—उस समय तत्वज्ञानीका चित्त भी तनिक विचलित हुए बिना नहीं रहता। वह सिहर उठेंगे, उनके मुंहका रंग उतर जायगा। उसके द्वारा उनका कोई अमंगल होगा, इस प्रकारको धारणाके वशीभूत होकर वह विचलित नहीं होते; परन्तु बुद्धि-ज्ञानका कार्य आरम्भ होते न होते ही एक प्रकारकी अचिन्तित, तात्कालिक स्वाभाविक चञ्चलता आकर उन्हें विचलित कर देती है। किन्तु क्षणभरके बाद ही जब वह विचार करके देखते हैं तब यह प्रत्यक्ष पदार्थ-समूह उनकी अन्त-

आत्माके वास्तविक भयके कारणस्वरूप नहीं मालूम होते, उसके सम्बन्धकी प्रतीतिमें वह योग नहीं देते अथवा उसका अनुमोदन नहीं करते। वह उसका तिरस्कार करते हैं, परित्याग करते हैं, उसमें ऐसा कुछ भी नहीं देखते जिससे उन्हें भय हो सके। तत्वज्ञानी लोग कहते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानीमें इतना ही भेद है। अज्ञानी लोग समझते हैं कि पहली प्रतीतिमें वह सब उन्हें जैसे भीषण और कठोर मालूम होते हैं असलमें भी वह सब वैसे ही हैं। उनकी बुद्धि भी इस प्रतीतिमें योग देती है, उसका अनुमोदन करती है। किन्तु यद्यपि तत्वज्ञानीका चेहरा थोड़ी देरके लिये फीका पड़ जाता है तथापि वह उसमें योग नहीं देते, उसका अनुमोदन नहीं करते। इस प्रतीतिके सम्बन्धमें उनके मनका कोई परिवर्तन नहीं होता। अर्थात् पहलेकी तरह वह इस समय भी सोचते हैं कि उन सबके भीतर वास्तविक भयका कोई कारण नहीं है, वे भीषण आकार धारण करके केवल मिथ्या भय दिखाते हैं।

२—हम लोगोंकी आत्मा एक जलपूर्ण पात्रकी तरह है। पात्रस्थ जलके ऊपर जैसे प्रकाशकी किरण पड़ती है, वैसे ही पदार्थ-समूह-जात प्रतीतिकी छाया भी आत्माके ऊपर पड़ती है। जलके चञ्चल होनेसे जैसे किरण भी चञ्चल मालूम होती है, वैसे ही मनुष्यका मन जब अज्ञानसे ढका रहता है, चञ्चल रहता है तभी सब रूप विकृत मालूम होते हैं। वास्तविक सत्यमें कोई विकार नहीं होता। जिस मनके ऊपर उसकी छाया पड़ती

है उस मनकी विकृत अवस्थाके कारण ही वह विकृत भावसे दीखता है। उस विकृत अवस्थाके बीत जानेपर ही उसके निकट वास्तविक सत्य पुनः स्वाभाविक रूपमें प्रकाशित होता है।

जीवन-सागरकी यात्रा

समुद्रकी यात्राके समय जब जहाज कहींपर ठहरकर लंगर डालता है तब तुम जल लानेके लिये डोंगीपर चढ़कर जाते हो और जल भर चुकनेके बाद राहमें कन्द-मूल, फल-फूल आदि जो कुछ पाते हो उसका भी संग्रह कर लिया करते हो ; किन्तु जहाजका कप्तान न जाने कब तुम्हें बुलावे, इस विचारसे तुम्हें सदा ही अपने मनको जहाजकी ओर स्थिर रखना होता है और उसके बुलाते ही उन सब चीजोंको छोड़ तुम्हें दौड़कर जहाजपर पहुंचना होता है। यदि उसके बुलाते ही तुम नहीं आये तो वह भेड़ बकरीकी तरह हाथ पांव बांधकर तुम्हें जहाजके निचले हिस्सेमें डाल देता है। मनुष्यका जीवन भी इसी प्रकारका है। कन्द-मूल, फल-फूल आदिकी तरह स्त्री पुत्र आदिको साथ ले चलनेमें कोई बाधा नहीं है। किन्तु नावका स्वामी यदि तुम्हें बुलावे तो सब वस्तुओंका त्याग करके तुम्हें दौड़कर जहाजपर आना ही होगा—पीछेकी ओर फिरकर एक बार देखने भी नहीं पाओगे। यदि तुम बुढ़ापेकी अवस्थामें पहुंच गये हो तो कभी जहाजसे दूर न जाना, ऐसा न हो कि मालिक तुम्हें पुकारें और तुम उस समय उपस्थित न रहो।

प्रत्यर्पण

•०◊०•

किसी अवस्थामें भी ऐसा न कहना कि "मैंने यह चीज खो दी है" बल्कि कहना कि "मैंने प्रत्यर्पण कर दिया है।" तुम्हारा लड़का क्या मर गया है?—"जिसका धन था उसे प्रत्यर्पण किया गया है।" तुम्हारी स्त्री मर गई है?—"प्रत्यर्पण की गई है।" अपनी सम्पत्तिसे क्या तुम वञ्चित हुए हो?—"वह भी प्रत्यर्पण हुई है।" ऋणदाता किसीके द्वारा अपना पावना वसूल करता है—इसमें तुम्हारा क्या होना जाता है?

अतएव जितने दिनोंतक वह अपने धनको तुम्हारे पास रहने दे तबतक दूसरेका धन समझकर उसकी सुव्यवस्था करना यात्री लोग धर्म्मशालाका जिस प्रकार व्यवहार करते हैं तुम भी उसके सम्बन्धमें उसी प्रकार व्यवहार करना।

सुखका पथ

१—"मेरी जो इच्छा है वही हो" इस प्रकार आकांक्षा न करके यदि तुम ऐसा विचार करो कि "चाहे जिस प्रकारकी ही घटना हो, मैं उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करूंगा" तो तुम सुखी होगे।

२—रोग शरीरकी ही बाधा है, वह आत्माकी बाधा नहीं है; यदि उसमें आत्माकी सम्मति हो तभी वह आत्माकी बाधा होती है। लंगड़ापन पांवकी ही बाधा है, आत्माकी बाधा नहीं। जो कुछ भी क्यों न हो, तुम सब अवस्थामें ही कह सकते हो कि यह बाधा मेरी नहीं, यह किसी दूसरेकी बाधा है।

३—तब कौन तुम्हारा उत्पीड़न करता है—कौन तुम्हें कष्ट देता है? तुम्हारी अज्ञानता ही तुम्हारा उत्पीड़न करती है—तुम्हें कष्ट देती है। जब हम लोग बन्धु-बान्धवसे, सुख-सम्पदसे अलग होते हैं तब अपनी अज्ञानता ही हम लोगोंका उत्पीड़न करती है। धाई जब थोड़ी देरके लिये बच्चेके पाससे चली जाती है, तब बच्चा रोने लगता है; किन्तु फिर ज्योंही उसे थोड़ी मिठाई दी जाती है त्योंही वह उसका दुःख भूल जाता है। तुम भी क्या उसी बच्चेकी तरह होना चाहते हो?

हम जिसमें थोड़ीसी मिठाईपर भूल न जायं, हम जिसमें यथार्थ ज्ञान द्वारा, विशुद्ध भाव द्वारा परिचालित हों, इसका ध्यान रखना चाहिये। वह यथार्थ ज्ञान क्या है?

मनुष्यको यह समझना चाहिये—क्या बन्धु-बांधव, क्या पद-मर्यादा, यह सब कुछ भी अपना नहीं है-सभी दूसरेकी चीजें हैं; अपने शरीरको भी दूसरेका ही समझना। धर्म्मके नियमको ही सदा स्मरण रखना—नजरके सामने रखना। वह धर्म्मका नियम क्या है? वह यही है—जो कुछ वास्तवमें अपना है उसे चिपटकर धरना दूसरेकी चीजपर दावा न करना। जो तुम्हें दिया गया है उसीका व्यवहार करना, जो तुम्हें नहीं दिया गया है उसका लोभ न करना। जो तुमसे वापस ले लिया जाय उसे तुम इच्छपूर्वक सहजमें हो छोड़ देना, और जितने दिनोंतक उसका भोग कर सके हो उसके लिये देनेवालेको धन्यवाद देना।

४—अभागे मनुष्य! जो प्रतिदिन देखते हो उससे क्या तुम सन्तुष्ट नहीं हो? यह सूर्य, यह चन्द्र, यह समुद्र, यह पृथ्वी—इनकी अपेक्षा श्रेष्ठ अथवा बड़ा देखनेयोग्य पदार्थ और क्या है? जो समस्त ब्रह्माण्डका शासन करते हैं वही तुम्हारे हृदयमें भी हैं। यदि तुम उनके पथके पथिक होओ, तो क्षुद्र विषयोंमें क्या तुम्हारी श्रद्धा हो? जब तुम्हें इस चन्द्र सूर्यको भी छोड़कर जाना पड़ेगा, उस समय तुम क्या करोगे? क्या बच्चेकी तरह बैठे बैठे केवल रोया करोगे? तुम इस प्रकार कष्ट क्यों पाते हो? यथार्थ ज्ञानके अभावसे ही कष्ट पाते हो—मोहके कारण ही कष्ट पाते हो।

५—हे मनुष्य! और किसी चीजके लिये पागल न होओ,—केवल शान्तिके लिये, मुक्तिके लिये, महत्वके लिये पागल होओ।

दासतासे मुक्त हो सिर ऊंचा करके खड़े होओ। ऊपर ईश्वरकी ओर देखकर साहसपूर्वक यह कहो—"हे प्रभो, अबसे तुम्हारी जो इच्छा हो उसीका मेरे प्रति विधान करो; तुम्हारी जो इच्छा हो, वही मेरी भी इच्छा होगी—मैं तुम्हारा हूं। तुम्हें जो अच्छा लगे उसका मैं कभी परित्याग नहीं करूंगा; जहां इच्छा हो वहीं तुम मुझे ले जाओ; जिस तरहके साजसे मुझे सजाना चाहो, उसी तरहके साजसे मुझे सजाओ। तुम्हारी क्या इच्छा है?—मैं प्रभुत्व करूं या सामान्य मनुष्यकी तरह रहूं; घरमें निवास करूं अथवा निर्वासित होऊं; दरिद्रताका भोग करूं अथवा ऐश्वर्यका भोग करूं? तुम जैसी व्यवस्था करोगे उसीका मैं लोगोंके सामने समर्थन करूंगा; उसीको उपयोगी कहकर सबके सामने उसका प्रतिपादन करूंगा।"

अतएव जो तुम्हारे लिये वास्तवमें अमङ्गलजनक है उसीको अपने मनसे दूर कर दो। दुःख, भय, लोभ, ईर्षा, मात्सर्य, विलासिता, भोगाभिलाष—इन सबको मनसे दूर करो। किन्तु जबतक तुम ईश्वरके प्रति दृष्टि नहीं रखोगे—उनके द्वारा परिचालित नहीं होओगे—उनके चरणोंमें अपने जीवनका उत्सर्ग करके उनके आदेशका पालन नहीं करोगे, तबतक यह सब कुप्रवृत्तियां तुम्हारे मनसे किसी प्रकार भी दूर न होंगी। इस पथको छोड़ यदि तुम दूसरे पथपर चलो, तो तुम्हारी अपेक्षा प्रबलतर शक्ति आकर तुम्हें पराजित कर देगी; चिर-कालतक तम बाहर ही बाहर सुख सौभाग्यकी खोज करते

रहोगे, किन्तु कभी उसे पाओगे नहीं। कारण, तुम उसी जगह उसकी खोज करते हो जहां उसके मिलनेकी कोई सम्भावना नहीं; और उस जगह खोज करनेमें उपेक्षा करते हो जहां वह वास्तवमें है।
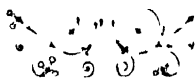
कर्त्तव्य

१—दूसरोंके साथ हमारा जैसा सम्बन्ध होता है उसीके अनुसार हम लोगोंके सब कर्त्तव्य निर्द्धारित होते हैं। अमुक व्यक्ति क्या तुम्हारा पिता है? ऐसा होनेसे यह प्रकट होता है कि तुम्हें उनकी सेवा करनी होगी, सब बातोंमें उनकी आज्ञा मानकर चलना होगा, उनकी डांट-फटकार सहनी पड़ेगी, उनके दिये हुए दण्डका भी भोग करना होगा। किन्तु यदि वह असत्-पिता हों, तब क्या होगा? केवल सत्-पिताके साथ ही तुम्हारा सम्बन्ध होगा, ऐसा क्या प्रकृतिका कोई नियम है?—नहीं, प्रकृतिका नियम केवल यही है कि तुम किसी एक पिताके साथ सम्बन्ध-सूत्रसे आबद्ध होगे।

तुम्हारा भाई तुम्हारी बुराई करता है। करने दो; उसके प्रति तुम्हारा जो सम्बन्ध है तुम उसकी रक्षा करते चलो। वह कैसा व्यवहार करता है इसकी छानबीन करके देखनेका कोई प्रयोजन नहीं है। किस प्रकार चलनेसे तुम अपने स्वाभाविक नियमका पालन कर सकते हो, तुम केवल इतना ही देखो। तुम यदि आप ही इच्छा न करो, तो कोई भी तुम्हारी क्षति नहीं कर सकता; तुम यदि समझो कि तुम्हारी क्षति होती है, तभी तुम्हारी वास्तविक क्षति होगी।

२—इसी प्रकार यदि तुम ध्यान देकर सब सम्बन्धोंको देखनेका अभ्यास करो, तो पड़ोसीके प्रति, अपने देशवालोंके प्रति, और और भी सब लोगोंके प्रति तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है—यह सहजमें ही निश्चित हो जायगा।
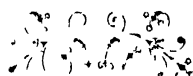
जिसका जो काम

१—"जीवनभर असम्मानित होकर ही मुझे रहना होगा। देशमें मेरे लिये कोई स्थान नहीं, मैं देशका कोई नहीं"—इस प्रकारके विचारसे अपने मनको दुःख न दो। मान-सम्भ्रमकी अप्राप्तिको क्या तुम अनिष्ट समझते हो? दूसरेके किये हुए पापाचरणसे जैसे तुम पापके भागी नहीं होते, उसी प्रकार दूसरेके किये हुए कार्य्यसे भी तुम्हारा प्रकृत अनिष्ट नहीं होता। तुम जब किसी भोजमें निमंत्रित होते हो—राज्यके किसी कर्म्म-पद-पर नियुक्त होते हो—तब वह क्या तुम्हारा अपना किया काम होता है? तब इसमें असम्मानकी बात क्या है? "मैं देशका कोई नहीं"—यह बात तुम कैसे कहते हो? जो सब विषय तुम्हारे अधीन हैं, जिनमें तुम सबकी अपेक्षा अधिक योग्यता दिखा सकते हो, केवल उन्हीं विषयोंमें तुम "देशका कोई" कहकर परिचित हो सकते हो।

२—"अपने बन्धुओंका मैं कोई उपकार नहीं कर सकता—यह बात कैसे कहते हो? बन्धुओंका उपकार करना? वह लोग तुमसे धन नहीं पायंगे, मान नहीं पायंगे, यह बात सत्य है। यह सब क्या हम लोगोंके अपने अधिकारमें है? जिसके पास जो चीज नहीं है, वह क्या उसे दूसरेको दे सकता है?

३—"यदि नहीं है तो अर्ज्जन करो"—लोग ऐसा कहा करते

हैं। इस सबका अर्ज्जन करने जाकर यदि मुझे अपना धर्म्म, अपनी भक्ति, अपना महत्व, यह सब खोना न पड़े, तो बताओ किस उपायसे उसका अर्ज्जन करना होगा ? मैं वैसा ही करूंगा किन्तु जो सब वस्तुएं एकदम अच्छी नहीं हैं उनका अर्ज्जन करने जाकर जो सब अच्छी वस्तुएं मेरे पास हैं—यदि मैं तुम्हारी बात मानकर चलनेमें उन्हें खो बैठूं, तो क्या मैं तुम्हें मिथ्यावादी और अविवेचक नहीं समझूंगा ? अच्छा, बोलो तो देखूं, तुम इन दोनोंमें क्या चाहते हो ? धन चाहते हो या चिरविश्वस्त धर्म्मनिष्ठ बन्धु चाहते हो ? यदि तुम अपने बन्धुकी धर्म्म-निष्ठता और विश्वस्तता चाहते हो, तो ऐसा कोई काम करनेको उसे न कहना, जिसे करने जाकर वह इन सब गुणोंको खो बैठे।

४—"किन्तु ऐसा होनेसे मैं देशका कोई काम कर नहीं सकूंगा।" देशका काम किसे कहते हैं ? तुम्हारे पास इतना धन नहीं है कि तुम एक तालाब खनवा सको, चाहे एक नया घाट बंधवा सको। देश तुमसे यह सब नहीं पावेगा, यह ठीक है। किन्तु इससे क्या ? देश तो लोहारसे जूता पानेकी आशा नहीं करता, अथवा मोचीसे अस्त्रशस्त्र पानेकी प्रत्याशा नहीं करता जिसका जो काम है वह यदि उसे सुसम्पन्न करे, तो यही यथेष्ट है। यदि तुम देशके एक आदमीको धर्म्मनिष्ठ और भगवद्भक्त बना सको, तो क्या तुम्हारा देशका काम करना नहीं हुआ ? अतएव, "मैं देशका कोई काम नहीं कर सकूंगा—यह बात किसी मतलबकी नहीं है।

५—"अच्छा, देशके भीतर कौन पद तुमको दिया जा सकता है?" चाहे जिस पदपर मुझे प्रतिष्ठित करो, देखना जिसमें उससे मेरा धर्म्म, मेरी ईश्वर-भक्तिका लोप न होने पावे। किन्तु देशका काम करूंगा, ऐसा सोचकर यदि इन सबका परित्याग करूं, यदि देशको अधर्म्म और पापमें निमग्न करूं, तो मेरे द्वारा देशका क्या काम हुआ?

अभ्यास और साधना
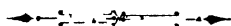
१—अपनी प्रत्येक शक्तिको - प्रत्येक वृत्तिको यदि हम लोग काममें लावें तभी वह परिरक्षित और परिवर्द्धित हो सकती है। चलनेकी शक्ति चलनेसे, दौड़नेकी शक्ति दौड़नेसे बढ़ती है। यदि तुम किसी चीजकी उत्तम रूपसे आवृत्ति करना चाहो, तो बार बार उसकी आवृत्ति करनी होगी; यदि सुन्दर लिखना चाहो, तो बार बार लिखना होगा। यदि एक महीनेतक तुम ऊंचे स्वरसे आवृत्ति न करो—आवृति न करके और कुछ करो—तो देखोगे कि उसका फल क्या होता है। यदि तुम दस दिनतक बिछावनपर पड़े रहनेके बाद एक दिन बहुत दूर चलनेकी चेष्टा करो, तो देखोगे कि तुम्हारे पांव दुर्बल हो गये हैं। मोटी बात यह है कि यदि तुम किसी विषयमें दक्षता प्राप्त करना चाहो तो उसे व्यवहारमें लाओ और यदि किसी विषयसे निवृत्त होना चाहो तो एक बारगी ही उसे मत करो। उसके बदलेमें और कुछ करो।

२—आध्यात्मिक विषयोंमें भी ठीक यही हाल है। यदि तुम एक बार क्रोध करो, तो समझ लेना कि उससे तुम्हारा केवल एक ही बार अनिष्ट नहीं हुआ—बल्कि तुम्हारा अनिष्टकी ओर झुकाव हुआ—तुमने आगमें घीकी आहुति प्रदान की। यदि तुम कामके द्वारा अभिभूत हुए, तो यह न समझना कि कामदेवने

तुम्हारे ऊपर एक ही बार विजय प्राप्त की ; परन्तु इसके द्वारा तुमने अपनी इन्द्रिय-दुर्बलताको परिपुष्ट और वर्द्धित किया। कारण, कार्यके द्वारा ही शक्ति-समूह--वृत्ति-समूह विकसित होते हैं, प्रबल होते हैं, व्याप्त होते हैं। तत्वज्ञानी लोग कहते हैं कि इसी प्रकार आत्माकी भी पाप-प्रवणता बढ़ती है। यदि तुम्हें कभी धनका लोभ हो और उसी समय यदि तुम धर्म्मबुद्धिकी शरण लो, तो इससे तुम्हारे लोभका भी दमन होगा और तुम्हारी धर्म्मबुद्धि भी बल प्राप्त करके अपने पदपर पूर्ववत् सुप्रतिष्ठित होगी। किन्तु यदि तुम धर्म्मबुद्धिकी शरण न लो, तो अपनी आत्माकी पूर्ववत् निर्म्मल अवस्था तुम्हें फिर न मिलेगी। दूसरी बार जब कोई प्रलोभन सामने आयगा, तभी पहलेकी अपेक्षा और भी शीघ्र तुम्हारी वासनाकी आग जल उठेगी। जो आदमी एक बार ज्वर-रोगसे पीड़ित हुआ है उसका ज्वर छूट जानेपर भी—पूर्ण रूपसे आरोग्यता प्राप्त किये विना—वह अपनी पूर्वावस्थाको प्राप्त नहीं करता। आत्माके रोगमें भी ऐसा ही हुआ करता है। रोगके दूर होनेपर भी आत्मामें जो क्षतचिह्न रह जाते हैं उन सब क्षतचिह्नोंको यदि एकबारगी निर्मूल न करो और उस स्थानपर यदि फिर कभी पापकी आंच लगे, तो उस समय वह क्षतचिह्न-समूह चिह्नमात्र नहीं रहते, उस समय उस जगह 'दगदगे घाव' हो जाते हैं।

३—"मेरा क्रोधी स्वभाव चला जाय"—ऐसी यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो उसकी प्रवृत्तिका पोषण मत करना—ऐसी कोई

आहुति प्रदान न करना जिससे वह और भी जल उठे। पहलेसे ही शान्त भाव धारण करो और विना क्रोधके कितने दिन बीते इसकी गणना करते रहो। "इस बार मैं एक दिन क्रुद्ध नहीं हुआ—इस बार दो दिनोंतक क्रुद्ध नहीं हुआ—इस बार तीन दिनोंतक क्रुद्ध नहीं हुआ"- इस प्रकार यदि ३० दिनोंतक बिना क्रुद्ध हुए रह सको, तो देवताके उद्देश्यसे यज्ञादिका अनुष्ठान करना। इसी प्रकार कार्य करनेसे प्रवृत्तियां धीरे धीरे दुर्ब्बल होकर एकबारगी निर्म्मूल हो जायंगी।

४—"इसमें सुसिद्ध किस प्रकार हुआ जा सकता है?" आत्मप्रसाद लाभ करूंगा—ईश्वरके सामने निष्कलङ्क सुन्दर रहूंगा - ऐसा दृढ़ सङ्कल्प हृदयमें धारण करो। मैं अपनी निर्म्मल अन्तरात्माके निकट निर्म्मल रहूंगा, ईश्वरके निकट विशुद्ध रहूंगा—सच्चे दिलसे इस प्रकार इच्छा करो। पीछे यदि किसी प्रलोभनमें पड़ जाओ तब क्या करोगे? प्लेटो क्या कहते हैं सुनोः—"पुण्य कर्म्मका अनुष्ठान करो, दुर्ब्बलके सहायक और आश्रय देवताओंके मन्दिरमें जाकर प्रार्थना करो।" क्या मृत और क्या जीवित—सब प्रकारके ज्ञानी और साधु लोगोंका सहवास करो, ऐसा करनेसे भी यथेष्ट लाभ होगा।

५—इन सब उपायोंका अवलम्बन करनेसे तुम प्रलोभनको जीत सकोगे—प्रलोभनसे पराजित न होओगे। किन्तु पहलेसे ही प्रलोभनके प्रबल वेगमें न बह जाना। पहले ही उसे इस प्रकार कहना—"रे प्रलोभन! जरा ठहर जा; पहले मैं देख लूं कि तू क्या

वस्तु है और तेरा काम कैसा है—तुझे एक बार जांच लूं।"
प्रलोभनके वशीभूत होनेके पहले एक बार मन ही मन कल्पना करके देखो कि उसका अन्तिम परिणाम क्या है। यदि ऐसा न करो, तो वह तुम्हारे मनपर अधिकार जमा लेगा और जहां चाहेगा वहां तुम्हें ले जायगा। और एक काम करो, —इस नीच प्रलोभनके विरुद्ध एक उच्चतर महत्तर प्रलोभनको लाकर अपने सम्मुख खड़ा करो और उस उच्च प्रलोभनकी सहायतासे इस नीच प्रलोभनको दूर कर दो। यदि तुम इस प्रकारके आयासका साधन करो, तो देखोगे कि तुम्हारा कन्धा, तुम्हारी मांस-पेशियां, तुम्हारे पट्ठे कैसे बलिष्ठ और दृढ़ होते हैं। किन्तु ऐसा न करनेसे केवल बात ही बात रह जायगी—बातके सिवा और कुछ भी न होगा।

६—वही सच्चा वीर है जो इन प्रलोभनोंके साथ बराबर युद्ध करता है। यही युद्ध श्रेष्ठ है, यही व्रत स्वर्गीय है जिसका फल सर्व्वाधिपत्य है, जिसका फल स्वाधीनता है, जिसका फल सौभाग्य-समृद्धि है, जिसका फल चित्तकी शांति है। ईश्वरका स्मरण करो, उसकी सहायताकी प्रार्थना करो, उसकी शरण लो। तूफानके समय मल्लाह जैसे वरुण-देवको पुकारता है, वैसे ही इस प्रलोभनरूपी तूफानमें ईश्वरको पुकारो। जिस तूफानमें विवेकबुद्धि पराभूत और विचलित हो जाती है उसकी अपेक्षा प्रबल तूफान और क्या है? और जिसको तुम तूफान कहते हो वही क्या है?

वह भी तो एक प्रतीतिमात्र--एक आभासमात्र है। उसमेंसे मृत्यु-भय हटा लो—देखोगे कि कितने ही वज्र विद्युत हों, तोभी आकाश अतीव निर्म्मल रहता है—देखोगे कि आत्माकी प्रकाशिका वही विवेकबुद्धि कैसी स्थिर और प्रशान्त रहती है। किन्तु एक बार पराभूत होकर उसके बाद यदि तुम कहो कि "इस बार मैं विजयी होऊंगा" और प्रत्येक बार यदि तुम यही एक ही बात कहते रहो तो निश्चय जानना—अन्तमें तुम्हारी एक ऐसी हीन दशा उपस्थित होगी- तुम्हारी ऐसी दुर्ब्बल अवस्था आ पहुंचेगी कि उस समय तुम्हें यह भी मालूम न होगा कि तुम पाप कर रहे हो, उस समय तुम उसी पाप कार्यके लिये अनेक प्रकारके बहानि खोजते रहोगे, उस समय हेलियडकी इस उक्तिकी सत्यता प्रमाणित होगी:—

"दीर्घसूत्री युद्धमें अनरथ अशेष सदा करै"

७—तब क्या मनुष्य इस प्रकार दृढ़ सङ्कल्प करके सदैव निर्दोष रह सकता है?—नहीं, वैसा नहीं रह सकता। तोभी निर्दोषिताकी ओर अग्रसर होनेके लिये क्रमागत चेष्टा करना— अन्ततः इतना मनुष्य कर सकता है। अपनी चेष्टासे तनिक भी विरत न होकर, तनिक भी शिथिलता न दिखाकर यदि अन्ततः दो चार दोषोंसे भी हम छुटकारा पा सकें, तो हम लोगोंका परम सौभाग्य होगा। तुम जो अभी कहते हो कि "कलसे मैं सावधान होऊंगा" इस बातका अर्थ तो यह है—"आज मैं निर्लज्ज होऊंगा, दुराग्रही होऊंगा, नीच होऊंगा; आज मुझे दूसरेको

कष्ट देनेका सामर्थ्य होगा; आज मैं क्रोधके वशीभूत होऊंगा, ईर्षाके वशीभूत होऊंगा।" देखो, कितने पापोंको तुम बुला रहे हो! कलके लिये यदि कोई काम अच्छा समझते हो, तो उस कामको आज ही करना क्या और भी अच्छा नहीं है? यदि कोई काम कल करनेके योग्य हो, तो उसका आज ही करना क्या और भी योग्य नहीं है, आज उस कामको करना इसलिये और भी उचित है कि ऐसा करनेसे कल तुम उस कामको करनेके लिये और भी अधिक योग्य होओ—उसे करनेके लिये और भी अधिक बल प्राप्त करोगे; ऐसा होनेसे फिर उसे अगले दिनके लिये उठा न रखोगे।

मनुष्यके भीतर ईश्वर
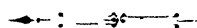
१—ईश्वर हितकारी है। मङ्गल भी हितकारी है। अतएव यही सम्भव है कि जहां ईश्वरका सारांश है वहीं मङ्गलका भी सारांश होगा। ईश्वरका सारांश क्या है?—मेद, मज्जा, मांस?—नहीं, यह नहीं हो सकता।—भू, सम्पत्ति?—नहीं, यह भी नहीं। यश? नहीं, यह भी नहीं। आत्मा? -हां, यही। यही मंगलका भी सारांश है। इसे क्या तुम उद्भिज्जके भीतर खोजकर पा सकते हो?—कभी नहीं। किसी अज्ञान जीवके भीतर पाओगे? कभी नहीं। तब बुद्धिज्ञान—सम्पन्न जीव और अज्ञान जीव इन दोनोंमें जो भेद है, उस भेदके भीतर इसकी खोज न करके अब भी क्यों अन्यत्र इसको खोज करते हो?

२—उद्भिज्जगण इन्द्रिय-प्रतीतिके अनुसार काम नहीं करते। अतएव इनके सम्बन्धमें मंगलअमंगलकी बात मैं नहीं करता। जिन्हें इन्द्रिय प्रतीतिके अनुसार कार्य करनेकी शक्ति है मंगलकी बात उन्हींके सम्बन्धमें घटती है। क्या केवल यही? नहीं, केवल यही नहीं। क्योंकि यदि ऐसा हो, तब तो कहना पड़ेगा कि शुभ और अशुभ निकृष्ट जीवोंके भीतर भी है। किन्तु तुम कभी यह बात नहीं कहोगे। और तुम्हारी बात ही ठीक है। कारण, यद्यपि वह सब सर्वथा इन्द्रिय-प्रतीतिके अनुसार चल सकते हैं, तथापि वे उसके फलाफलका पर्यवेक्षण और विचार

करनेमें असमर्थ हैं। और यही उन लोगोंको लिये स्वाभाविक है। वे दूसरोंकी सेवाके लिये हैं। उनका अपना कोई महत् उद्देश्य नहीं है। गधोंके जीवनका परम उद्देश्य क्या है? दूसरेका बोझा ढोना ही उनका एकमात्र काम है। दूसरेके प्रयोजनके लिये ही उन्हें रास्ता चलना होता हैं। और इसलिये ही उन्होंने इन्द्रिय-प्रतीतिके अनुसार काम करनेकी शक्ति पायी है। ऐसा नहीं होनेसे वे चल नहीं सकते। परन्तु यहींपर उसका अन्त हो जाता है। कारण, इसके साथही यदि इन्द्रिय-प्रतीतिके प्रयोगके सम्बन्धमें पर्यवेक्षण और विचार करनेकी शक्ति उनमें होती, तो वे न्यायतः हम लोगोंके अधीन नहीं होते, हम लोगोंकी सेवामें नियुक्त नहीं होते। ऐसा होनेसे वे हम लोगोंकी बराबरीके होते—हम लोगोंके समान होते।

३—व्यवहार करना एक बात है, और पर्यवेक्षण तथा अनुशीलन करना दूसरी बात है। दूसरे सब जीव केवल इन्द्रिय-प्रतीतिके अनुसार कार्य करेंगे; किन्तु हम लोग अपनी इन्द्रिय-प्रतीतियोंका पर्यवेक्षण करेंगे-अनुशीलन करेंगे, यही ईश्वरका अभिप्राय है। इसीसे आहार, निद्रा और मैथुन—यह सब काम ही उनके लिये यथेष्ट हैं। किन्तु ईश्वरने हम लोगोंको अनुशीलन और पर्यवेक्षण करनेकी शक्ति दी है, इसीसे हम लोगोंके लिये वह सब यथेष्ट नहीं हैं। किन्तु यदि हम लोग किसी एक विशेष अनुशासन और नियमके अनुसार बाह्य प्रकृति और मानव प्रकृतिका मेल रखकर न चलें, तो हम लोग अपने जीवनके उद्देश्यका

साधन करनेमें कभी समर्थ न होंगे। कारण, जहां दैहिक प्रकृति विभिन्न होगी, वहां कार्य और उद्देश्य भी विभिन्न होंगे। यदि कोई दैहिक प्रकृति केवल इन्द्रिय प्रतीतिके अनुसार चलनेके योग्य हो, तब वही उसके लिये यथेष्ट होगा। किन्तु जहांपर इन्द्रिय-प्रतीतिके व्यवहारके सम्बन्धमें पर्यवेक्षण और अनुशीलन आवश्यक है, वहांपर पर्यवेक्षण और अनुशीलनकी शक्तिका यथार्थ प्रयोग किये बिना प्रकृत उद्देश्यकी सिद्धि न होगी। तब तुम क्या कहना चाहते हो ? ईश्वरने अन्यान्य जीव-जन्तुओंकी सृष्टि विशेष विशेष कार्यके लिये की है—किसीको जमीन जोतनेके लिये, किसीको दूध देनेके लिये और किसीको बोझ ढोनेके लिये। इन्द्रिय-प्रतीतिके सम्बन्धमें पर्यवेक्षण और अनुशीलन करनेको—भेदाभेदका निर्णय करनेको—उन्हें क्या आवश्यकता ? किन्तु ईश्वर और उसकी रचनाका साक्षी स्वरूप—केवल साक्षी ही नहीं—व्याख्याता-स्वरूप मनुष्य इस संसारमें आया है। अतएव दूसरे मूढ़ जीव-समूह जो काम करते हैं केवल उतना ही करके रह जाना मनुष्यके लिये बड़ी लज्जाकी बात है। दूसरे जीव जहांसे कार्य आरम्भ करते हैं मनुष्य भी वहींसे आरम्भ करे; किन्तु मानव-प्रकृतिका जहांपर अन्त होता है वहांतक पहुंचकर ही जिसमें वह अपना कार्य समाप्त करे, इसका ध्यान रखना चाहिये। हम लोगोंकी प्रकृतिका अन्त कहांपर होता है ?—ध्यान धारणामें। इन्द्रिय-प्रतीतिके साथ कैसे मेल होगा, इसके लिये हम लोगोंकी प्रकृति बराबर ही चेष्टा और अनुशीलन करती

रहती है। ऐसा न हो कि इन सब बातोंको बिना देखे सुने ही तुम लोग इस लोकसे चले जाओ।

४—किन्तु तुम्हारे करनेका अभिप्राय क्या है? यह सब दूसरे जीव भी क्या ईश्वरकी सृष्टि नहीं हैं? अवश्य ही ईश्वरकी सृष्टि हैं। ईश्वरकी परा-सृष्टि नहीं हैं। उनके भीतर ईश्वरांश नहीं है। किन्तु तुम एक श्रेष्ठ पदार्थ हो। तुम ईश्वरके एक अंश हो। किस उच्च कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है, सो क्या तुम नहीं जानते? क्या तुम नहीं जानते कि तुम कहांसे आये हो? जब तुम भोजन करते हो तब क्या तुम्हें स्मरण नहीं होता कि कौन भोजन करता है?—भोजन करके तुम किसका पोषण करते हो? बातचीतसे, आहार-विहारसे, काम-धंधेसे तुम जो एक खण्ड-ईश्वरका पोषण कर रहे हो, उसे परिचालित कर रहे हो यह क्या तुम नहीं जानते? अभागे मनुष्य! एक खण्ड-ईश्वरको अपने भीतर धारण करके तुम अपने साथ साथ उसे सर्वत्र लिये फिरते हो- यह तुम नहीं जानते? क्या तुम समझते हो कि मैं किसी स्वर्णमय या रजतमय ईश्वरकी बात करता हूं जो तुम्हारे बाहर अवस्थित है? नहीं, यह बात नहीं है। अपने भीतर ही तुम उन्हें लिये चलते हो, अतएव देखना जिसमें तुम्हारी कोई अपवित्र चिन्ता—कोई निन्दनीय कार्य उनके पवित्र सिंहासनको कलङ्कित न करे। तुम अभी जो करते हो उसे तुम ईश्वरकी किसी प्रतिमूर्तिके निकट करनेका साहस नहीं करते। किन्तु तुम्हारे भीतर ईश्वर स्वयं विराजमान हैं। वह सभी देखते हैं, सभी सुनते

है। उनके सामने इस प्रकारकी चिन्ताएं अथवा यह सब कार्य करते हुए क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती? हे अपनी प्रकृतिको न जाननेवाले मनुष्य, सावधान! जिसमें तुम्हें ईश्वरकी रुद्र-मूर्ति—संहार-मूर्ति देखनी न पड़े।

५—तब हम लोग युवकोंको विद्यालयसे जीवनके कार्यक्षेत्रमें भेजनेमें इतना भय क्यों करते हैं? कहीं वे कोई अनुचित काम करें, विलासी और लम्पट हो जायं, फटे कपड़े पहननेमें अपनी हीनता समझें, अच्छे वस्त्र पहननेसे उद्धत हो उठें—इस प्रकारकी अनेक आशङ्काएं हम लोगोंको हुआ करती हैं! जो इस तरह भय करता है वह अपने ईश्वरको नहीं जानता; नहीं जानता कि वह किसके साथ जा रहा है। यदि कोई मुझसे कहता है - "गुरुदेव! आप यदि मेरे साथ रहते तो मुझे कोई भय नहीं होता।" तो ऐसी बातसे मेरा धैर्य्य छूट जाता है। क्यों भाई! तुम्हारा ईश्वर क्या तुम्हारे साथ नहीं है? उन्हें पाकर भी तुम दूसरेका सङ्ग क्यों खोजते हो?

६—तुम यदि प्रसिद्ध मूर्तिकार "फिडियस" द्वारा निर्मित कोई देव-प्रतिमा होते, तो तुम अपने सम्बन्धमें भी तनिक विवेचना करके चलते और अपने बनानेवाले मूर्तिकारके सम्बन्धमें भी तनिक विवेचना करके चलते। और यदि तुममें चैतन्य होता, तो तुम अपने बनानेवालेके अयोग्य कोई काम नहीं करते, कोई खराब पोशाक पहनकर उसके सामने नहीं आते। किन्तु जिन्होंने तुम्हारी सृष्टि की है उन ईश्वरके निकट तुम किस रूपमें

आते हो, इस ओर तुम आंख उठाकर भी नहीं देखते। सो क्या यह शिल्पी दूसरे शिल्पियोंके समान हैं? क्या इनको रचना अन्य शिल्पियोंकी रचनाके समान हैं? यह कैसी अपूर्व्व रचना है जिसमें रचयिताकी रचना-शक्ति उसकी रचनाके भीतर भी मौजूद है! दूसरे मूर्त्तिकार लोग पत्थर या धातुकी मूर्तियां गढ़ते हैं। "फिडियस"ने विजय लक्ष्मीकी जो मूर्ति गढ़ी थी, वह एक ही स्थानमें खड़ी रहती है। किन्तु ईश्वर-निर्मित मूर्तियोंमें चलनेकी शक्ति है, बोलनेकी शक्ति है, श्वास-प्रश्वासकी शक्ति है-- वह सब इन्द्रिय-प्रतीतिका व्यवहार और विचार करनेमें समर्थ हैं। वह ऐसा शिल्पी है जिसकी तुम रचना हो-- क्या तुम उनका अपमान करोगे? उन्होंने केवल तुम्हारी रचना ही नहीं की है, बल्कि अपनेको (बालकके रूपमें) तुम्हारे हाथमें रख दिया है—समर्पण कर दिया है। क्या तुम इस बातका भी स्मरण नहीं रखोगे? तुमने जिसको रक्षाका भार ग्रहण किया है उसकी क्या तुम अवहेलना करोगे? विचार करो,ईश्वर यदि किसी अनाथको तुम्हारे हाथमें सौंप देते तो क्या तुम उसकी अवहेलना करते? अब अपनेको तुम्हारे हाथमें सौंपकर वे कह रहे हैं—"तुमसे बढ़कर विश्वासयोग्य आदमी मेरा और कोई नहीं है; इस मनुष्यकी प्रकृतिने जिस भावसे रचना की है, ठीक उसी भावसे तुम इसकी रक्षा करना—इसको भक्तिवान्, श्रद्धावान्, उन्नत, शान्त, दान्त, निर्भय बनाकर रखना।" किन्तु तुम ऐसा कभी नहीं करते। यह कैसे आक्षेपकी बात है!

विरह विच्छेद

१—दूसरे किसी आदमीके दोषसे तुम्हारा अनिष्ट होगा, ऐसा अपने मनमें न सोचो। इसलिये तुम्हारा जन्म नहीं हुआ है कि तुम दूसरेके साथ रहकर असुखी होओ, बल्कि तुम इसलिये उत्पन्न हुए हो कि दूसरेके साथ रहकर सुखी होओ, सौभाग्यवान् होओ। यदि कोई दुर्भाग्य असुखी हो, तो उसे जानना चाहिये कि यह उसके अपने किये कर्म्मका फल है। कारण, ईश्वरने सब मनुष्योंको सुखी बनानेके लिये ही उत्पन्न किया है—सबको ही अच्छी अवस्थामें रखा है। इस अभिप्रायसे उन्होंने प्रत्येक व्यक्तिको ऐसी कितनी ही चीजें दी हैं जो उनकी अपनी हैं और कितनी ऐसी चीजें दी हैं जो उनकी अपनी नहीं हैं। जो सब वस्तुएं प्राकृतिक बाधाके अधीन हैं, अनिवार्य शक्तिके अधीन हैं, विनाशके अधीन हैं, वह उसकी अपनी वस्तुएं नहीं हैं इससे भिन्न जो वस्तुएं हैं वही उसकी अपनी हैं। जो सदैव हम लोगोंकी रक्षा और देखभाल करते हैं, पिताकी तरह हम लोगोंका पालन करते हैं, उन ईश्वरने ऐसी कितनी ही वस्तुओंको हमारी अपनी सम्पत्ति बना दी है जिनपर हम लोगोंका प्रकृत मङ्गल निर्भर करता है।

२—"किन्तु मैं अमुकको छोड़ आया हूं इसलिये वे कष्ट पा रहे हैं।" जो सब वस्तुएं उनकी अपनी नहीं हैं उन्हें वे अपनी

क्यों समझते हैं ? तुम्हें देखकर जब उन्हें आनन्द होता था उस समय क्या उन्होंने विचारा नहीं कि तुम मर्त्यजीव हो, किसी दिन दूसरे लोकको चले जाओगे ? इसीसे वे अब अपनी नासमझीका फल भोगते हैं। किन्तु तुम क्यों रोते हो ? अबोध स्त्रीकी तरह क्या तुम भी यही सोचते हो कि तुम अपनी प्रिय वस्तुके साथ चिरकाल तक एकत्र वास कर सकोगे ? उन सब प्रियजनोंको देख नहीं सकते हो, उन सब प्रिय स्थानोंमें जा नहीं सकते हो, क्या इसीलिये तुम इस समय रो रहे हो ? तब तो तुम कौओंसे भी बढ़कर अभागे हो। वह सब जहां चाहते हैं वहां उड़ जाते हैं, अपना खोता बदल लेते हैं, समुद्रके पार चले जाते हैं जो कुछ पीछे छोड़ जाते हैं उसके लिये विलाप नहीं करते—उसके लिये लालायित नहीं होते।

"हां, वह सब ऐसे ही हैं क्योंकि वे बुद्धिहीन जीव हैं।" तब क्या देवताओंने हम लोगोंको बुद्धि-विवेचना इसलिये दी है कि हम लोग चिरकालके लिये असुखी हों ? अच्छा, तब आओ, हम लोग सभी अमर हों, कभी विदेशमें न जायं, वृक्षादिकी भांति एक ही स्थानपर अड़े रहें। यदि हम लोगोंका कोई साथी हमें छोड़कर चला जाय, तो हम उसके लिये केवल बैठे बैठे रोया करें; और पुनः उसके लौट आनेपर छोटे बच्चोंकी तरह ताली बजाकर नाचें!

३—तो क्या हम लोग अभीतक दुधमुंहे बच्चे ही हैं? तत्वज्ञानियोंकी बातका क्या अब भी हम लोग स्मरण न करेंगे?

तो क्या इतने दिनों तक हम लोग इन्द्रजालीके मंत्रको भांति उन लोगोंकी बातें सुनते आये हैं? क्या उन्होंने यह बात नहीं कही थी?—यह सारा संसार एक अखण्ड शासनतन्त्रके अधीन है, एक ही उपादानसे बना हुआ है। अतः, इसका एक निर्दिष्ट कालचक्र, एक निर्दिष्ट कल्पकाल अवश्य ही होगा। कितने ही पदार्थ चले जायंगे और कितने ही पदार्थ उनके स्थानपर अधिकार करेंगे। कितनोंका तिरोभाव और कितनोंका ही आविर्भाव होगा। कितने ही अचल भावसे और कितने ही सचल भावसे अवस्थान करेंगे। किन्तु यह जान रखना कि सभी पदार्थ देवता और मनुष्यके प्रेमसे परिपूर्ण हैं। प्रकृतिके नियमसे सभी एक दूसरेके साथ स्नेह-ममताके बन्धनमें बंधे है। किन्तु चिरकालतक एकत्र रहना भी प्राकृतिक नियमके विरुद्ध है। जितने दिनोंतक एक साथ रह सको उतने दिनोंतक आनन्द करो; किन्तु कोई तुम्हें छोड़कर चला जाय, तो परिताप न करो।

४—हर्कुलिसने सम्पूर्ण पृथ्वीपर भ्रमण किया था, किन्तु उस समय कितने आदमी उनके बन्धु थे? वह अपने पुत्रोंको छोड़कर चले गये थे, किन्तु इसके लिये उन्होंने विलाप नहीं किया—परिताप भी नहीं किया वह लोगोंको अनाथ करके भी नहीं गये थे। कारण, वह जानते थे कि कोई आदमी अनाथ नहीं होता, एक परम पिता हैं जो सबकी रक्षा और देखभाल करते हैं। हर्कुलिस ईश्वरको केवल सबके पिताकी तरह नहीं जानते थे, वह उन्हें विशेष रूपसे अपना पिता जानते थे। इसी कारण

वह सभी जगहोंमें सुखके साथ अपना समय बितानेमें समर्थ हुए थे।

५—सुख और जो तुम्हारे पास नहीं है उसको आकांक्षा—यह दोनों एक साथ कभी रह नहीं सकते। सुख सब वासनाओंकी पूर्त्ति चाहता है—पूर्ण परितृप्ति चाहता है। उसके साथ भूख प्यासका रहना हो नहीं सकता। ऐसा कौन साधु मनुष्य है जो अपनेको नहीं जानता? जो अपनेको जानता है वह क्या यह बात भी नहीं जानता कि दो आदमी कभी चिरकालतक एकत्र नहीं रह सकते? वह क्या नहीं जानता कि "जिसका जन्म होता है उसीकी मृत्यु होती है?" जिसका पाना असम्भव है उसके लिये आकांक्षा करनी क्या पागलपन नहीं है? जो इस तरहकी आकांक्षा करता है वह ईश्वरके विरुद्ध संग्राम करता है। वह ईश्वरकी इच्छाके अनुसार कार्य नहीं करता, वह अपनी भ्रान्त प्रतीतिके अनुसार ही कार्य करता है।

६ "किन्तु मेरी मा जो मुझे नहीं देखनेसे रोने लगती हैं।" तो क्या उन्होंने यह सब उपदेश-वाक्य कभी नहीं सुने? तब तुम उन्हें समझानेकी चेष्टा करो। इसके सिवा तुम और क्या कर सकते हो। दूसरेका दुःख दूर करना पूर्ण रूपसे हम लोगोंके अधिकारमें नहीं है। किन्तु अपना दुःख दूर करना सम्पूर्ण रूपसे हम लोगोंकी साधनाके अधीन है। किसी अनिवार्य प्राकृतिक घटनाके लिये विलाप करना ईश्वरके विरुद्ध संग्राम करना होगा; ऐसा करनेसे दिनरात हमारा मन अशान्त

रहेगा। निस्तब्ध रात्रिमें यदि कोई खबर आवे, किसीके यहांसे पत्र आवे, तो हम लोग बिछावनसे उछल पड़ते हैं और न जाने कैसी खबर आयी है, यह सोचकर कांपने लगते हैं। "रोमसे एक आदमी पत्र लेकर आया है" "यदि कोई अशुभ समाचार हो।" जब तुम उस जगहपर नहीं हो तो तुम्हारा क्या अशुभ हो सकता है। "ग्रीससे पत्र आया है"—"कोई अशुभ संवाद तो नहीं है?"—इस प्रकार सब स्थान ही तुम्हारे लिये अमङ्गल-सूचक हो उठते हैं। जहां तुम मौजूद हो उसी जगहका अशुभ क्या तुम्हारे लिये यथेष्ट नहीं है? समुद्रपारमें भी क्या तुम्हारा निस्तार नहीं है? पत्रादिसे भी क्या तुम्हारा निस्तार नहीं है? तब तुम कहां जाकर निरापद होओगे? "मेरे जो सब आत्मीय बन्धु विदेशमें हैं उनकी यदि मृत्यु हो, तो क्या होगा?" विधाताके अखण्डनीय नियमानुसार जो सब जीव मृत्युके अधीन हैं उनकी मृत्यु एक समय अवश्य ही होगी। तुम इसमें क्या करोगे? तब तुम दीर्घजीवी होनेकी इच्छा क्यों करते हो? बहुत दिनोंतक जीनेसे किसी न किसी प्रिय-जनकी मृत्यु क्या तुम्हें देखनी नहीं पड़ेगी? तुम क्या नहीं जानते कि दीर्घकालके बीचमें कैसी कैसी घटनाएं हो सकती हैं? कोई ज्वर-रोगसे, कोई शत्रुके हाथसे और कोई राजाके उत्पीड़नसे अपनी जीवनलीला समाप्त करेगा। यही सब हमारे घेरे हैं—यही सब हमारे सङ्गी-साथी हैं। जाड़ा, गर्मी, अनुचित रूपसे जीवन बिताना, जल और स्थलका भ्रमण, अन्धड़-तूफान—इस तरह कितनी ही अवस्थाओंमें पड़कर मनुष्य

कालका कवल होता है। कोई देश-निकालेमें, कोई दूत-कार्यमें और कोई रणभूमिमें जाकर प्राणत्याग करता है। तो तुम इन सबसे डरकर चुपचाप घरमें बैठे रहो, केवल विलाप करो, रोओ, दुःखी होओ, दूसरेके ऊपर निर्भर किये रहो—एक नहीं, दो नहीं, हजारों बाहरी घटनाओंपर निर्भर किया करो।

७—तो क्या तुमने यही सुना है? तत्वज्ञानियोंसे यही उपदेश प्राप्त किया है? तुम क्या जानते नहीं कि यहां संग्राम ही इस जीवनका एकमात्र कार्य है? सेनापति तुम्हें कोई कठिन कार्य करनेकी आज्ञा दे, उस समय यदि तुम दुःख प्रकाश करो—यदि तुम उस आज्ञाका पालन न करो, तो यह सम्पूर्ण सैन्यमण्डलीको कैसा बुरा उदाहरण दिखाना होगा, सो क्या तुम नहीं जानते? ऐसा करनेसे तुम्हारा उदाहरण देखकर कोई खाई नहीं खनेगा, घेरा नहीं बनायगा, पहरा नहीं देगा—कोई विपदकी ओर अग्रसर नहीं होगा, सभी अकर्मण्य हो जायंगे। ऐसे ही जहाजके माझी होकर यदि तुम एक ही जगह बैठे रहो, मस्तूलपर चढ़नेको कहा जाय तो न चढ़ो, गलहीकी ओर जानेको कहा जाय तो न जाओ, तब किस जहाजका कप्तान तुम्हारे सम्बन्धमें धैर्य्य धारण कर सकेगा?—वह क्या बाधा समझकर, कार्यका बाधक समझकर, दूसरे माझियोंके लिये कुदृष्टान्त समझकर तुम्हें जहाजसे निकाल न देगा?

८—इसी प्रकार यहां भी प्रत्येक मनुष्यके जीवनको एक प्रकारका दीर्घकालव्यापी संग्राम समझना—वह विचित्र घटना-

ओंसे पूर्ण है। यहां सभीको सैनिक बनना होगा, सेनापतिका इशारा होते ही कायरता छोडकर सब आदेशोंका पालन करना होगा। यही नहीं, कभी कभी इसका भी अनुमान कर लेना होगा कि उनके मनका अभिप्राय क्या है। सेनापति जहां जानेको कहेंगे वहीं जाना होगा। तुम क्या उद्भिज्जोंकी तरह एक ही स्थानपर गड़कर रहना चाहते हो? हां, उसमें आराम है, सुख है। इसको कौन अस्वीकार करता है? स्वादिष्ट भोजन क्या सुखकी सामग्री नहीं है? सुन्दरी स्त्री क्या सुखकी सामग्री नहीं है? जो लोग नीच पाशव सुखमें आसक्त हैं उन्हीं लोगोंके मुंहमें ऐसी बात शोभा पाती है।

९—इन सब नीच वासनाओंका त्याग करो। इन सब विलासी लोगोंके दृष्टान्तोंका अनुसरण मत करो। बेखटके अच्छी तरह सोयंगे, विछावनसे उठकर आलसोकी तरह जंभाई लेंगे, मुंह हाथ धोयंगे, इच्छानुसार लिखेंगे पढ़ेंगे, उसके बाद तुच्छ बातचीतमें कुछ समय बितावेंगे, हम जो कहेंगे उसीमें बन्धुगण हमारी प्रशंसा करेंगे, उसके बाद जरा घूमनेके लिये बाहर जायंगे, उसके बाद स्नान, उसके बाद भोजन, उसके बाद फिर विश्राम करेंगे—इसके सिवा उन लोगोंकी क्या और कोई आकांक्षा है? हे सुकरात और डायोजिनिजके शिष्य और सत्यके सेवकगण! क्या तुम लोग इसी प्रकारके जीवनको वांछनीय समझते हो?

१०—"तो क्या मैं माया-ममताका परित्याग करूं?" मनुष्य दीन भावसे विलाप करे, दूसरेके ऊपर सर्वथा निर्भर करे,

किसी दुर्घटनाके उपस्थित होनेपर ईश्वरपर दोषारोपण करे—यह विवेकसम्मत कार्य नहीं है। विवेकके अधीन होकर स्नेह-ममता करो।

किन्तु इस प्रकार स्नेह-ममता करने जाकर यदि दासताकी बेड़ीमें बंध जाओ, तो वह तुम्हारे लिये लाभदायक न होगा। किसी मरणशील मर्त्यजीवको जिस भावसे प्यार किया जा सकता है, किसी विदेशी यात्रीको जिसप्रकार प्यार किया जा सकता है, उसी प्रकारसे क्यों नहीं प्यार करते इसमें कौनसी बाधा है? सुकरात क्या अपनी सन्तानोंको प्यार नहीं करते थे? हां, प्यार करते थे, किन्तु वह स्वाधीन पुरुषकी तरह प्यार करते थे। वह समझते थे कि सबसे पहले देवताओंको प्यार करना होगा। इसीसे क्या जीवन और क्या मरण, सभी अवस्थाओंमें वह स्वर्गीय कर्त्तव्यका पालन करनेमें समर्थ हुए थे। नीच कार्योंमें प्रवृत्त होकर हम लोग अनेक प्रकारके बहाने किया करते हैं। कोई सन्तानका बहाना—कोई माताका बहाना—कोई भाईका बहाना—किया करता है। किन्तु इस प्रकार बहाना करना उचित नहीं। सबके साथ रहकर—विशेषतः ईश्वरके साथ रहकर—हम लोग सुखी हों, यही ईश्वरकी इच्छा है। किसीके लिये भी हम लोग दुःखी हों, यह उनकी इच्छा नहीं है।

११—इसके सिवा, जो कुछ तुम्हें प्रिय है, उसके सम्बन्धमें क्या क्या बाधाएं हैं, इसकी एक बार कल्पना करके देखना। जिस समय तुम अपने छोटे बच्चेका चुम्बन करते हो उस समय

उसके कानमें यह बात कहनेमें क्या हानि है?—"बेटा! कल तू चला जायगा।" इसी तरह अपने बन्धुओंसे यह बात कहनेमें क्या दोष है?—"चाहे तुम, नहीं तो मैं—दोनोंमें एक कल प्रस्थान करेगा, और मालूम होता है कि अब हम लोगोंकी भेंट न होगी।" किन्तु यह सब तो "कुलक्षण"की बातें हैं। तो क्या तुम कहना चाहते हो कि जो कुछ स्वाभाविक सत्य है वही "कुलक्षण" है? तब ऐसा क्यों नहीं करते—धान काटना भी 'कुलक्षण" है, क्योंकि उससे धान मर जाता है; तब क्यों नहीं कहते कि पत्तेका झरना, कच्चे गूलरका सूख जाना, अंगूरका सूखकर किसमिस होना—यह सभी 'कुलक्षण' हैं। किन्तु इस प्रकार उन सबोंकी दूसरी अवस्थामात्र हो गई है, उनका विनाश तो हुआ नहीं है। यह केवल एक परिवर्तन है। इसी तरह विदेशयात्रा भी एक परिवर्तन है। और मृत्यु?—वह एक और बड़ा परिवर्तन है। किन्तु यह अस्तिसे नास्तिमें परिवर्तन नहीं है—एक अवस्थासे और एक दूसरी अवस्थामें परिवर्तनमात्र है।

अकेला रहना

१ - अपनेको अकेला वही समझता है जो असहाय और निरुपाय है। कारण अकेला रहनेसे ही अकेला रहना नहीं होता; और ऐसा भी नहीं होता कि बहुत लोगोंके साथ रहनेसे अकेले-का भाव दूर हो जाय। इसलिये हमारी निर्भरताके आधार हैं -- उस भाईसे अथवा पुत्रसे या बन्धुसे जब हम अलग होते हैं तभी अपनेको अकेला समझते हैं। शहरमें इतनी बड़ी जनता, इतने घर और अटारियां रहनेपर भी शहरमें जानेपर कभी कभी हम अपनेको अकेला समझते हैं। अर्थात् मनमें होता है कि मैं असहाय हूं, मालूम होता है कि मैं ऐसे लोगोंके बीचमें आ पड़ा हूं जो मेरा अनिष्ट करनेमें सङ्कुचित न होंगे। घूमनेके लिये बाहर निकलनेपर यदि एक चोरोंकी जमातके बीचमें आ पड़ूं, तोभी मुझे मालूम होता है कि मैं अकेला हूं। विश्वासी धर्म्म-परायण हितैषी मनुष्यका दर्शन होनेसे ही अकेलेका भाव दूर हो जाता है--जिस किसी मनुष्यके दर्शनसे ऐसा नहीं होता। यह बात सच है --हम लोग सामाजिक जीव हैं, स्वभावसे ही हम लोगोंको दूसरेके साथ एकत्र वास करनेकी इच्छा होती है। किन्तु यह भी देखना आवश्यक है कि कैसे हम लोग अपनेपर निर्भर करके रह सकते हैं--अपने संसर्गसे ही परितृप्त हो सकते हैं।

कारण, मनुष्य अकेला ही जन्म ग्रहण करता है और अकेला ही मरता है। देखते क्यों नहीं—ईश्वर आप ही अपना साथी है, अकेला ही संसारके शासनमें लगा हुआ है, अकेला ही अपने महत्-सङ्कल्पके ध्यानमें निमग्न है। इस प्रकार यदि मैं भी आप अपने साथ बातें कर सकूं, दूसरेके संसर्गका अभाव अनुभव न करूं, अपने भीतर ही अपने विनोदके उपायोंका संग्रह कर रखूं, आत्म-पर्याप्त होऊं—ईश्वरका जगत् शासन किस तरह चल रहा है, बाह्य वस्तुओंके साथ मेरा कैसा सम्बन्ध है, मेरी पहली अवस्था कैसी थी, इस समयकी वर्तमान अवस्था कैसी है, कौन कौन विषय इस समय भी मुझे क्लेश दे रहे हैं, किस प्रकार यह सब दुःख-क्लेश दूर किये अथवा कम किये जा सकते हैं, अवस्थाके अनुसार किन किन विषयोंमें मैं अपना उत्कर्ष साधन कर सकता हूं—इन सब विषयोंकी आलोचनामें यदि मैं लगा रहूं तो फिर मुझे अकेला रहना न हो।

२—हम लोग सोचते हैं—राजाने हम लोगोंको शान्ति प्रदान की है, इस समय युद्ध-विग्रह नहीं है, चोर-डाकुओंका भय नहीं है, इस समय देशके एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्ततक विना किसी विघ्न-बाधाके भ्रमण कर सकते हैं। यह सब सत्य है; किन्तु राजा क्या ज्वर-रोगसे, नौका-डुब्बीसे, अग्निके उत्पातसे, भूमि कम्पसे, वज्र-विद्युतसे अथवा कामदेवसे हम लोगोंका छुटकारा करा सकते हैं? अथवा दुःख-शोकसे, ईर्षासे हम लोगोंको मुक्त कर सकते हैं?—कभी नहीं। इनमेंसे किसीसे भी वह हम लोगोंकी

रक्षा नहीं कर सकते। किन्तु तत्वज्ञानी लोग कहते हैं कि उनकी बात मानकर चलनेसे इन सब दुःख क्लेशोंके बीच भी शांति प्राप्त की जाती है। तत्वज्ञानकी आश्वास-वाणी क्या है सो सुनो—"यदि तुम लोग मेरी बातपर कान दोगे तो हे मनुष्यो! तुम लोग किसी जगह भी क्यों न रहो, तुम्हारा शोक-ताप दूर हो जायगा, ईर्षा-द्वेष चला जायगा, फिर तुम्हें किसी रिपुके वशीभूत होना न पड़ेगा, तुम किसी विघ्न-बाधासे परास्त न होगे सब प्रकारके अनिष्टोंसे मुक्त होकर तुम निरुद्विग्न चित्तसे जीवन-यात्रा निर्वाह कर सकोगे।" जिन्होंने ऐसी शान्ति-सम्पद् प्राप्त कर ली है, (जिस शान्तिकी घोषणा ईश्वरके सिवा और किसी पार्थिव राजाके द्वारा हो नहीं सकती) वे क्या आत्म-पर्याप्त और आप्तकाम नहीं होते? उस समय वे इस प्रकार विचार करते हैं—"अब मेरा कोई अमङ्गल हो नहीं सकता, मुझे अब शत्रुओंका भय नहीं है, भूमि-कम्पका भय नहीं है। मेरे लिये सभी पदार्थ शान्तिमय हैं; कोई पथ कोई नगर, कोई संघ, कोई पड़ोसी, कोई साथी मेरा तिलमात्र भी अनिष्ट नहीं कर सकता। ऐसे मनुष्यके लिये कोई भोजन पहुंचाता है, कोई वस्त्र देता है और कोई उसके ज्ञानकी सामग्री देता है—जो जिसका अधीकारी होता है वह उसका अंश दे कर उसकी सहायता करता है। जब इन सब आवश्यक सामग्रियोंका पहुंचना बन्द हो जायगा, उस समय समझना होगा कि उसका कार्य समाप्त होगया— उसके प्रस्थानका समय आ पहुंचा; उसी

समय उसके सामने द्वार खुल जाता है और ईश्वर उसे कहते हैं--"प्रस्थान करो"

"कहां प्रस्थान करेंगे ?"

किसी भयङ्कर स्थानमें नहीं—जिस स्थानसे तुम आये हो उसी स्थानको तुम जाओगे जो तुम्हारे आत्मीय बन्धु हैं उन्हीं पञ्चभूतोंमें तुम्हें मिलना होगा। तुममें जो अग्निका अंश था वह अग्निमें, जो वायुका अंश था वह वायुमें, जो जलका अंश था वह जलमें मिल जायगा। क्या पृथ्वी, क्या आकाश, क्या स्वर्ग, क्या नरक—ऐसा कोई स्थान नहीं है जो देवताओंके द्वारा, महाशक्तियोंके द्वारा पूर्ण न हो। जो लोग इन सब विषयोंकी चिन्ता करते हैं, जो लोग चन्द्र, सूर्य, तारा, नक्षत्र देखकर परमानन्द प्राप्त करते हैं, जो लोग पृथ्वी और समुद्रको देखकर उल्लसित हो उठते हैं, वे अकेले भी नहीं, असहाय भी नहीं और निरुपाय भी नहीं होते।

"किन्तु मुझे अकेला देखकर यदि कोई मेरी हत्या करे ?"

"मूर्ख ! तुम्हारी हत्या कोई नहीं कर सकता, तुम्हारे तुच्छ शरीरकी ही हत्या कर सकता है।"

३—तुम एक क्षुद्र आत्मा हो—-शरीर ग्रहण मात्र किये हो।

४—-फिर तुम अकेले कैसे हो ? तुम्हें किस वस्तुका अभाव है ? तब हम लोग अपनेको बच्चेकी अपेक्षा भी अधम क्यों बना लेते हैं ? बच्चे अकेले रहनेपर क्या करते हैं ? वे सीप घोंघा लेकर, धूल-बालू लेकर घर बनाते हैं, फिर उसे तोड़ डालते हैं,

फिर बनाते हैं ; इस प्रकार उनका खेल कभी समाप्त नहीं होता। और तुम्हारे चले जानेपर क्या मैं अपनेको अकेला समझकर केवल रोया करूंगा ? मुझे क्या सीप-घोंघी नहीं मिलती ? धूल-मिट्टी नहीं मिलती ? "किन्तु बच्चे तो अज्ञानी होनेके कारण ऐसे कार्य करते हैं।" और तुम ज्ञानी होनेके कारण अपनेको दुःखी बनाते हो, यह कैसी बात है ? यह तुम्हारा कैसा ज्ञान है, कहो तो ?

बात नहीं—काम

१ —अपनेको तत्वज्ञानी कहकर कभी प्रसिद्ध मत करना : दूसरे साधारण लोगोंके सामने तत्वज्ञानकी बातें अधिक न बोलना। तत्वज्ञानके जो उपदेश हैं उन्हें तुम कार्यमें परिणत करो। किसी भोजमें किस प्रकार भोजन करना चाहिये इस विषयमें तुम्हारे जो विचार हों उन्हें वक्तृता द्वारा प्रकट करनेके बदले, उचित यह है कि जिस प्रकार भोजन करना उचित है उस तरहसे तुम स्वयं भोजन करो। सुकरात क्या करते थे ?—वह किसी प्रकारका आडम्बर नहीं करते थे अपनेको ज्ञानी समझकर अभिमान नहीं करते थे। उनके पास यदि कोई तत्वज्ञानीकी खोजमें आता तो वह उसे दूसरेके पास ले जाते। वह सब प्रकारके तिरस्कार और अनादरको खुशीके साथ सह लेते।

२ - यदि साधारण लोगोंकी बातचीतमें तुम्हारे दर्शनतन्त्रके सम्बन्धमें चर्चा चले, तो अधिकांश समयमें तुम चुप ही रहना; क्योंकि उसमें एक विपत्तिकी आशङ्का है हो सकता है कि जिस विषयमें अभीतक तुम्हारा ज्ञान परिपक्व नहीं हुआ है उसीको दूसरोंके सामने उगल दो। यदि उस समय कोई तुम्हें कहे कि "तुम कुछ नहीं जानते," तो यदि वह बात तुम्हारे मनमें न चुभे तभी जानना कि तुममें तत्वज्ञानका कार्य आरम्भ हुआ है।

३—भेड़ोंने कितना भोजन किया है, यह दिखानेके लिये वह सब अपने भोजनको गडेरियेके सामने लाकर नहीं रखतीं, बल्कि उसे पचाकर बदनपर रोएं धारण करती हैं और दूध देती हैं। उसी तरह तुम भी दूसरे साधारण लोगोंको अपना तत्वज्ञान मत दिखाना, किन्तु उस तत्वज्ञानका परिपाक होनेसे जो कार्य उत्पन्न होता है उसी कार्य-फलको तुम अपने जीवनमें प्रकट करना।

राष्ट्र-परिचालन

१ -तुम लोगोंको अपने नगरको चहारदीवारी विचित्र रङ्गके पत्थरसे बनानेकी आवश्यकता नहीं है। नगरनिवासियोंके मनमें और राष्ट्रपतिके मनमें जिसमें संयम और सुशिक्षाका पूर्ण प्रवेश हो, इसीका उपाय करो। विद्वान लोगोंके उन्नत विचारोंके द्वारा ही नगरादि सुप्रतिष्ठित होते हैं काठ-पत्थरोंके द्वारा नहीं।

२—यदि तुम लोग अपने घरोंको सुप्रतिष्ठित करना चाहते हो, तो स्पार्टा-नगरनिवासी लाइकार्गसके दृष्टान्तका अनुसरण करो। उन्होंने जैसे नगरको चहारदीवारीसे नहीं घेरा था, परन्तु नगरवासियोंके मनमें धर्म्म-दुर्गकी दृढ़ रूपसे स्थापना करके समस्त नगरको चिरकालके लिये संरक्षित कर दिया था, उसी तरह तुम लोग भी दरबार-गृह और प्रासाद-शिखरोंसे नगरको न घेरकर गृहवासियोंके हृदयमें पवित्र विचार, भगवद्भक्ति और मैत्रीकी सुप्रतिष्ठा करो। ऐसा करनेसे तुममें कोई अमङ्गल घुसने न पायगा, अमङ्गलकी सम्पूर्ण सेना भी यदि तुम्हारे विरुद्ध खड़ी हो, तो वह कोई अनिष्ट नहीं कर सकेगी।

३—लाइकार्गसकी कौन प्रशंसा न करेगा; एक नागरिकने जब उसकी एक आंख फोड़ दी तब दूसरे नागरिकोंने उस दुष्ट

युवकको दण्ड देनेके लिये उनके हाथमें सौंप दिया। किन्तु लाइकार्गसने उसे दण्ड नहीं दिया। उन्होंने उसे अच्छी शिक्षा देकर भला आदमी बना दिया और सबको दिखानेके लिये एक दिन उसे खुल्लमखुल्ला नाट्यशालामें ले गये। नगरवासियोंने जब आश्चर्य प्रकट किया तब उन्होंने उनसे कहा—"तुम लोगोंके हाथसे जब मैंने इसे पाया था तब यह दुष्ट और उग्रस्वभावका था : अब इसे शान्त शिष्ट बनाकर मैं तुम लोगोंको प्रत्यर्पण करता हूं।"
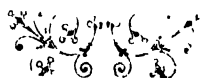
विधाताका अनागत-विधान

पशुओंको अपनी शरीररक्षाके लिये जिन वस्तुओंकी आवश्यकता है उन्हें वे आप ही आप पाते हैं, उनके लिये उन्हें कुछ उपाय करना नहीं होता—खान-पानके लिये, सोनेके स्थानके लिये उन्हें चिन्ता नहीं करनी होती। उन्हें न जूता चाहिये, न बिछावन चाहिये और न कपड़ा चाहिये। किन्तु हम लोगोंको यह सब चाहिये। वह सब अपने लिये जीवन-धारण नहीं करते—मनुष्यकी सेवाके लिये ही जीवन-धारण करते हैं। उन सबके लिये यदि इन सब आवश्यकीय वस्तुओंको जुटाना पड़ता तो हम लोगोंको न जाने कितनी असुविधा होती। गाय, भेड़ी आदिके लिये यदि रोआं-रूपी कपड़ा और खुर रूपी जूता हम लोगोंको जुटाना पड़ता तो हम लोग कैसी कठिनाईमें पड़ते। ये मनुष्यकी सेवामें नियुक्त होंगे, ऐसा समझकर प्रकृति-माताने पहलेसे ही उन सबको सब तरहसे सुसज्जित कर रखा है।

प्रकृतिके राज्यमें ऐसी एक चीज भी दिखाई नहीं देती जिससे विधाताकी पूर्व-चिन्ता और पूर्व-प्रबन्ध प्रकट न हो। श्रद्धावान कृतज्ञ मनुष्य सर्वत्र इसका अनुभव किया करते हैं। बड़े बड़े विषयोंको छोड़ दो—केवल छोटे छोटे विषयोंकी आलोचना

करनेसे भी इसका अनुभव होगा। घाससे कैसे सुगन्ध उत्पन्न होता है, दूधसे कैसे पनीर उत्पन्न होता है, चमड़ेसे कैसे पशम उत्पन्न होता है इसका एकबार विचार करके देखो। इन सबोंमें किसका हाथ दिखता है? किसकी कार्य-कल्पना प्रकट होती है? तुम क्या कहोगे -"किसीको नहीं?" यह कैसी धृष्टता है कैसी मूर्खता है!

इस बातको समझ सकनेपर क्या हम लोग उस सर्वश्रेष्ठ देवताकी महिमाका कीर्तन करनेसे क्षणमात्र भी विरत हो सकते हैं? जब हम लोग भोजनके उद्देश्यसे मिट्टी कोड़ते हैं या जोतते हैं, उस समय क्या यह कहकर उनका गुणगान नहीं करेंगे—"उस ईश्वरकी महिमा अपार है जिसने हम लोगोंको जमीन जोतनेके लिये यह सब औजार दिये हैं; वह ईश्वर महान् है जिसने हम लोगोंको हाथ दिये हैं, पेट दिया है, खानेकी चीजें दी हैं; जो हम लोगोंके अनजानसे ही कृषिको बढ़ाता है और सोते समय हम लोगोंके श्वास-प्रश्वासको नियमित रूपसे चलाता है?" उन्होंने जो हम लोगोंको अपनी विश्व-रचनाकी आलोचना करनेकी शक्ति दी है, हम लोगोंको यह जता दिया है कि किस राहसे चलना होगा—इसके लिये क्या उनकी महिमाका कीर्तन करना मनुष्य-मात्रका कर्त्तव्य नहीं है?

तुम लोगोंमें अधिकांश आदमी अन्धे हैं—तो क्या तुम लोगोंमें एक आदमी भी ऐसा नहीं है जो इस स्थानपर अधिकार करे?—जो सबका होकर उनकी महिमाका कीर्त्तन करे?

मैं बुड्ढा हूं, मैं लंगड़ा हूं मैं ईश्वरके गुण गानेके सिवा और क्या कर सकता हूं? मैं यदि कोयल होता, तो कोयल जो सब किया करते हैं वही मैं भी करता; मैं यदि राजहंस होता, तो राजहंस जो किया करते हैं वही मैं भी करता। किन्तु मैं जो ज्ञान-बुद्धि-सम्पन्न जीव हूं, इससे मेरा कर्तव्य है ईश्वरकी महिमाका कीर्त्तन करना। यही मेरे जीवनका निर्दिष्ट कार्य है: यही मैं बराबर करूंगा, इस कामको मैं कभी न छोड़ूंगा। जबतक शरीरमें प्राण रहेगा तबतक मैं उनका नाम-कीर्त्तन करता रहूंगा और इसी नाम-कीर्त्तनके लिये मैं तुम लोगोंको भी बुलाता हूं।

विषय-सुख और आत्म-प्रसाद

कोई विषय-सुख यदि तुम्हारे सामने उपस्थित हो, तो सावधानतापूर्वक बराबर उससे अपनेको बचाना। उसके फेरमें मत पड़ जाना। उसके विषयमें तनिक आगा पीछा करना, देर लगाना; अन्ततः कुछ समयके लिये उसे उठा रखना।

उसके बाद अपने मनमें सोचना कि उसके दो निर्दिष्ट समय हैं। एक तो वह समय है जिस समय तुम सुखका भोग करते हो और दूसरा वह समय है जिस समय उस सुखका भोग कर चुकनेपर तुम्हें उसके लिये पछतावा और आत्मग्लानि होगी। इसके सिवा यह भी विचारना कि यदि तुम उस विषय-सुखसे एकदम विरत हो सको, तो तुम्हें कैसा अनिर्वचनीय आत्म-प्रसाद प्राप्त होगा।

अन्तमें यदि उचित समझो तो तुम किसी कार्यमें प्रवृत्त हो सकते हो--तोभी सावधान रहना जिसमें उसका माधुर्य - उसकी मोहिनी शक्ति तुम्हें मोहित न करने पावे। दूसरी ओर यह विचारकर तुम्हें कितना आनन्द होगा कि मैंने प्रवृत्तिके ऊपर विजय प्राप्त की है।

राजशक्ति और आत्मबल

१—यदि किसी आदमीको दूसरेकी अपेक्षा अधिक सुयोग-सुविधा प्राप्त हो और यदि वह मूर्ख हो, तो वह घमण्डसे फूले बिना रह नहीं सकता। इसीसे प्रजापीड़क राजा अभिमानसे इस प्रकार कहा करता है "जानते हो, मैं कौन हूं ?- मैं सबका स्वामी हूं।" अच्छा, तुम जो स्वामी हो—तुम मुझे क्या दे सकते हो ? मेरे कार्यकी सब विघ्न-बाधाओंको क्या तुम दूर कर सकते हो? तुममें क्या ऐसी शक्ति है ? जिस वस्तुसे तुम्हें द्वेष है उसका क्या सब समयमे तुम त्याग कर सकते हो ? अथवा तुम जो पाना चाहते हो उसे क्या सब समय पाया करते हो ? तुममें क्या वह दैवी शक्ति है ? सभी कार्य क्या तुम्हारे अधिकारमें हैं ? जहाजपर चढ़कर तुम अपने ऊपर निर्भर करते हो या कप्तानके ऊपर निर्भर करते हो ? रथपर चढ़कर क्या तुम्हें सारथीके ऊपर निर्भर करना नहीं होता ? इसीसे समझ लो कि तुम सब कार्योंके स्वामी नहीं हो। तब तुम्हारा स्वामित्व क्या रहा ? "सब मनुष्य मेरी सेवामें नियुक्त हैं"। अच्छा, जब मैं अपने थाली-बासनको धोता मांजता हूं तब क्या मैं थाली-बासनकी सेवा नहीं करता ? इसलिये क्या मेरे थाली-बासन मुझसे बड़े हैं ? वह सब मेरे कतिपय अभावोंको दूर करते हैं इसीलिये मैं उनकी सेवा करता हूं। मैं क्या अपने गधेकी

सेवा-सुश्रूषा नहीं करता ? मैं क्या उसके पांव धो नहीं देता — उसकी देह नहीं मलता ? तुम क्या नहीं जानते कि प्रत्येक मनुष्य अपनी ही सेवा किया करता है ? कोई आदमी जैसे अपने गधेकी सेवा करता है, वैसे ही तुम्हारी भी सेवा करता है। तुम्हारे साथ मनुष्यकी तरह कौन व्यवहार करता है ? कौन तुम्हारे ऐसा होना चाहता है ? लोग जैसे सुकरातका अनुकरण करते थे, वैसे ही क्या कोई तुम्हारा अनुकरण करना चाहता है ?

"जानते हो, मैं तुम्हारा माथा काट ले सकता हूं।" अच्छी बात कही। मैं वह बात भूल गया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस हिसाबसे लोग शीतलाके देवताकी पूजा करते है, ज्वरके देवताकी पूजा करते हैं उसी हिसाबसे तुम भी मेरे पूज्य हो।

२—तब लोग किसका इतना भय करते हैं ? अत्याचारी राजाका भय ?—उसके रक्षकोंका भय ? ईश्वर करे कि हम लोगोंको वह भय करना न पड़े। जिसकी स्वाधीनता प्रकृति सिद्ध है उस मनुष्यकी आत्मा अपनी प्रकृतिगत विघ्न-बाधाओंको छोड़कर दूसरे प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे क्या उत्तेजित अथवा विचलित हो सकती है ? कभी नहीं, वह केवल मिथ्या ज्ञान और मोहवश ही इस प्रकार विचलित हुआ करता है। कारण, जब वह अत्याचारी राजा किसी मनुष्यको कहता है—"मैं तुम्हारे पांवोंमें बेड़ी दे दूंगा" तब यदि वह अपने दोनों पांवोंको

विशेष प्यार करना हो तो सम्भवतः कहेगा—"दोहाई धर्मा-वतारकी, मुझपर दया कीजिये," किन्तु जिसे आत्मापर—आत्मा-की स्वाधीनतापर अधिक विश्वास है वह कहेगा -"इससे यदि तुम्हें अधिक सुविधा हो तो ऐसा ही करो।"

"तो क्या तुम मुझे स्वामी कहकर स्वीकार नहीं करते ?" नहीं, मैं नहीं स्वीकार करता। मैं तुम्हें दिखलाऊंगा कि मैं ही तुम्हारा स्वामी हूं। तुम कैसे मेरे स्वामी होगे? ईश्वरने मुझे स्वाधीन कर दिया है। क्या तुम समझते हो कि वह अपनी सन्तानको मोलुआ नौकर होने देंगे? तुम मेरे इस मृत शरीरके ही स्वामी हो -यह लो, वह शरीर।

"तो क्या तुम मेरी सेवा नहीं करोगे ?"

नहीं, मैं अपनी आत्माकी ही सेवा करूंगा; और मेरे मुंहसे जो यह बात कहलाना चाहते हो कि मैं तुम्हारी सेवा भी करूंगा, तो मैं कहता हूं कि तुम्हारी सेवा मैं उसी तरह करूंगा जिस तरह मैं अपने लोटे-कटोरेकी सेवा किया करता हूं।

३ —यह स्वार्थपरता नहीं है। प्रत्येक जीवकी सृष्टि इसी भावसे हुई है कि वह सब कार्य अपने लिये ही करे। किन्तु ज्ञान-बुद्धि-सम्पन्न जीव-समूह इस तरह बनाये गये हैं कि यदि वे अपनी भलाई करें तो उसके साथ ही साथ सर्व-साधारणकी भलाई भी विना हुए नहीं रह सकती। अतएव सर्व-साधारणकी भलाई छोड़कर कोई कभी अपनी वास्तविक भलाई कर नहीं सकता। क्या यह कभी आशा की जा सकती है कि मनुष्य

अपनेसे, अपनी भलाईसे एक बारगी दूर रहेगा? यदि ऐसा हो, तो आत्मप्रीति-रूपी मूलतत्व जो समस्त प्रकृतिमें देखा जाता है वह कहां रहेगा?

४—अतएव आत्माके सिवा और किसी विषयपर यदि हम लोगोंका विश्वास हो—और किसी विषयको यदि हम लोग भला अथवा बुरा समझें—अपने हृदयमें यदि विषय-समूहको मिथ्या-प्रतीतिका पोषण करें, तो इसके फलसे हम लोगोंको अत्याचारी राजाकी सेवामें नियुक्त होना पड़ेगा। केवल राजाकी सेवा होती तोभी रक्षा थी—राजाके नीच प्यादोंकी भी सेवा करनी पड़ेगी।

५—जो इस प्रकार भले बुरेके भेदका विचार करनेमें समर्थ है, वह क्यों नहीं शान्त भावसे अपना जीवन निर्वाह कर सकेगा? जो बीतेगा और जो बीत चुका है उसके प्रति दृढ़तापूर्वक दृष्टिपात करनेमें क्यों न समर्थ होगा? तुम मुझे दरिद्रतामें डालना चाहते हो? देखो, मैं उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण कर सकता हूं या नहीं—देखो, मैं दरिद्रताका नाटक अच्छी तरह कर सकता हूं या नहीं। क्या तुम चाहते हो कि मैं देशका शासन करूं? मुझे उच्च प्रकारका अधिकार दो—दायित्व दो—ऐसा होनेसे मैं उसके कष्टका भार भी वहन करूंगा। देश-निकाला?—मैं चाहे जहां जाऊं, वहीं अच्छी तरह रहूंगा। यहां जो मैं अच्छी तरह था सो स्थानके कारण नहीं—अपने मतामतके अक्षत रहनेके कारण ही। मैं जहां जाऊंगा वहीं मतामतको साथ लेता जाऊंगा। मेरे

मतामतसे कोई भी मुझे वञ्चित न कर सकेगा। वही मेरी अपनी वस्तु है; उसकी रक्षा कर सकनेपर, चाहे जो कुछ करूं, चाहे जहां कहीं जाऊं, उससे कुछ होने जानेवाला नहीं है।

६—"किन्तु इस बार जो तुम्हारी मृत्युका समय उपस्थित है।"

क्या कहते हो?—मृत्यु? अजी! मृत्युको तुम शोकका विषय मत बना डालो वह जैसी है ठीक वैसा ही कहो। जिन पञ्चभूतोंसे मैं उत्पन्न हुआ था उन्हीं पञ्चभूतोंमें मुझे फिर मिल जाना होगा—यही न? इसमें भयकी बात क्या है? संसारके कौन कौन पदार्थ संसारमें ही रहेंगे? यह क्या कोई नई घटना होनेवाली है जो किसीने कभी देखी नहीं—सुनी नहीं? क्या इसीके लिये राजाका भय करना होगा? क्या इसी कार्यका साधन करनेके लिये रक्षक लोग बड़ी बड़ी तेज तलवारें लिये हैं? यह बात दूसरेके निकट कहो; इन सब चीजोंको मैंने अच्छी तरह परीक्षा करके देख लिया है। मेरे ऊपर मनुष्यका कोई अधिकार नहीं है। ईश्वरने मुझे स्वाधीन कर दिया है; उनकी क्या आज्ञा है, सो मैं जानता हूं। मुझे कोई भी कैदी नहीं बना सकता। मेरे मुक्तिदाता मेरे साथ ही हैं। मेरे विचारकर्त्ता भी मेरे साथ ही हैं। तुम केवल मेरे शरीरके स्वामी हो। उससे मेरा क्या होता जाता है? मेरी सम्पत्तिकी बात कहते हो? सम्पत्ति-नाशसे मेरा क्या होने जानेवाला है? निर्वासन, कारावास-दण्ड?—मैं फिर भी कहता हूं—तुम

जब कहोगे, तभी मैं अनायास इन सब चीजोंको छोड़कर चला जाऊंगा। तुम एक बार अपनी शक्तिका प्रयोग करके देखो न, देखें तो कि उसकी दौड़ कहांतक है!

७—"किन्तु राजा मुझे बांध जो देगा।" क्या मुझे बांधेगा? नहीं, मेरे दोनों पांवोंको। मेरा क्या लेगा?—मेरा मस्तक। मेरी जिस चीजको कोई बन्धनमें डाल नहीं सकता वह चीज क्या है?—मेरी आत्मा; मेरी आत्म-स्वाधीनता। इसीसे प्राचीन लोग उपदेश देते हैं कि "अपनेको जानो।"

८—तब मुझे भय किसका है? राजाके द्वारपालोंका? वे मेरा क्या कर सकते हैं? मुझे वे प्रवेश करने न देंगे? मैं यदि प्रवेश करना चाहूं तभी तो वे प्रवेश करने न देंगे।

मेरी इच्छा हो तोभी मैं प्रवेश नहीं करूंगा। कारण, मेरे लिये अपनी इच्छाकी अपेक्षा ईश्वरकी इच्छा ही बलवती है। मैं उन्हींका अनुयायी, दास और अनुचर हूं; उनकी जो इच्छा है वही मेरी भी इच्छा होगी, वह जिस पथपर चलनेको कहेंगे उसी पथपर मैं चलूंगा। मुझे कोई बाहर निकाल नहीं सकता; जो लोग जोर करके प्रवेश करना चाहते हैं वे ही निकाल बाहर किये जाते हैं। मैं प्रवेश करना क्यों नहीं चाहता? कारण, मैं जानता हूं कि जो लोग राजद्वारमें प्रवेश करते हैं उन्हें कोई भी अच्छी चीज नहीं मिलती। किन्तु अमुक मनुष्यको सीजरने सम्मानित किया है, इसके लिये जब मैं उसे उसके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करते सुनता हूं तब मैं उस आदमीसे पूछता हूं—

तुम्हारे भाग्यमें क्या लाभ हुआ ?—किसी देशका शासन भार ? अच्छा, उसके साथ ही क्या तुम्हें न्याय-परायणताकी भी कुछ शिक्षा मिली है ?—मेजिस्ट्रेटका कार्य ?—तो उसके साथ ही अच्छा मेजिस्ट्रेट होनेकी कुछ शक्ति भी अर्ज्जन की है ? तो फिर क्या हुआ ? एक आदमीने केवल थोड़ेसे चीनीके बताशे लूटा दिये हैं, लड़के उन्हें लेनेके लिये आपसमें छीना-झपटी कर रहे हैं; किन्तु जवान लोग उसके लिये लालायित नहीं हो सकते; वे उन सबको तुच्छ समझते हैं। सरकारी नौकरी बांटी जा रही है—लड़के उसकी खोज करें; धन बांटा जा रहा है--लड़के उसके लिये छीना-झपटी करें। वे राजद्वारसे निकाले जा रहे हैं—मार खा रहे हैं; तथापि जिस हाथसे मार खाते है उसी हाथका पुनः चुम्बन करते हैं। किन्तु मेरे लिये राजाके यह सब दान तुच्छसे भी तुच्छ हैं।

वेशभूषा

--०॰०--

१ —एक दिन एक युवक बड़े यत्नसे बाल संवारकर और सजधज कर एपिक्टेटसके निकट पहुंचा। एपिक्टेटसने उससे इस प्रकार बातचीत की:—

"किसी किसी कुत्तेको, किसी किसी घोड़ेको अथवा और किसी जन्तुको क्या तुम सुन्दर नहीं समझते?"

वह बोला,—"हां, समझता तो हूं।"

"उसी प्रकार क्या कोई कोई मनुष्य भी सुन्दर अथवा कुरूप नहीं होता?

"होता तो है।"

"यह सब जो सुन्दर जीव-जन्तु हैं, उनमेंसे प्रत्येकको क्या हम लोग एक ही कारणसे सुन्दर कहते हैं?—अथवा प्रत्येकके भीतर ऐसा कुछ है जो उसको शोभा देता है और जिसके रहनेकी वजहसे हम लोग उसे सुन्दर कहते हैं? असली बात यह है —हम लोग देखते हैं कि प्रकृतिने विशेष विशेष उद्देश्यके साधनके निमित्त कुत्ता, घोड़ा, कोयल आदि विशेष विशेष जीवजन्तुओंकी सृष्टि की है; अतएव इस प्रकार सिद्धान्त करना युक्ति-विरुद्ध न होगा कि प्रत्येक जातिके जीव-जन्तुके भीतर अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार जो सब जीव श्रेष्ठ हैं उन्हींको हम लोग सुन्दर कहते हैं। और प्रत्येक जातिके जीवकी प्रकृति विभिन्न होनेके कारण

उनमेंसे प्रत्येकका सौन्दर्य भी विभिन्न प्रकारका है। क्या यह बात नहीं है?"

उस मनुष्यने इस बातको यौक्तिकता स्वीकार की।

२ "अतएव जिस विशेषताके रहनेसे कुत्ता सुन्दर कहा जाता है, उसीसे घोड़ा कुत्सित मालूम होता है और जिस विशेषतासे घोड़ा सुन्दर प्रतीत होता है, उसीसे कुत्ता कुत्सित मालूम होता है। जातिगत प्रकृतिके भेदसे क्या सौन्दर्यके प्रकारमें भी भेद नहीं होता?"

"हां, ऐसा ही तो मालूम होता है।"

"जिस गुणको पाकर एक आदमी सुन्दर पहलवान बनता है, उसी गुणको पाकर कोई आदमी कभी सुन्दर नर्तक नहीं हो सकता।"

वह आदमी बोला—"यह तो ठीक ही है।"

"मनुष्यकी सुन्दरता तब किसपर निर्भर करती है?"

"जिस हिसाबसे कुत्ता सुन्दर कहा जाता है—घोड़ा सुन्दर कहा जाता है, उसी एक ही हिसाबसे क्या मनुष्य भी सुन्दर नहीं कहा जाता?"

उस आदमीने कहा—"हां, बात तो यही है।"

"तब कुत्तेका सौन्दर्य किस बातपर निर्भर करता है?" कुत्तेका स्वधर्म्म कुत्तेमें रहनेपर। "और घोड़ेका सौन्दर्य?" घोड़ेका स्वधर्म्म घोड़ेमें रहनेपर। यदि ऐसा हो तो क्या मनुष्यका सौन्दर्य भी मनुष्यके स्वधर्म्मपर निर्भर नहीं करता? अतएव

हे सौम्य युवक! यदि तुम सुन्दर होना चाहो, तो मनुष्यका जो स्वधर्म्म है उसीकी उन्नति करनेका यत्न करो। किन्तु यह मनुष्य-धर्म्म क्या है? तुम जब किसीकी मनसे प्रशंसा करते हो तब किसलिये उसकी प्रशंसा करते हो? क्या सज्जनताके लिये नहीं?

"हां, सज्जनताके लिये ही।"

मिताचारी और अमिताचारी—इनमें तुम किसकी प्रशंसा करते हो?

"मिताचारीकी"।

इन्द्रियासक्त और जितेन्द्रिय—इनमें तुम किसकी प्रशंसा करते हो?

"जितेन्द्रियकी"।

अतएव जिसकी तुम प्रशंसा करते हो उसके समान यदि तुम अपनेको बना सको तभी जानना कि तुम अपनेको सुन्दर बना सके हो। किन्तु जितने दिनोंतक इन सब विषयोंकी उपेक्षा करोगे उतने दिनोंतक—अपनेको सुन्दर बनानेके तुम कितने ही उपायोंका अवलम्बन करो—तुम कुत्सित, कुरूप ही बने रहोगे।

तुम मांस नहीं हो तुम केश नहीं हो; तुम हो आत्मा-पुरुष। तुम यदि अपनी आत्माको सुन्दर बना सको, तभी तुम सुन्दर होगे। तुम कुत्सित हो—ऐसा मैं तुमसे साहस-पूर्वक कह नहीं सकता; किन्तु यदि कोई तुम्हें कुत्सित कहे तो

तुम्हें उसकी बातको सह लेना उचित है। कारण, इस अवस्थामें तुम्हारे लिये कुत्सितके सिवा और किस शब्दका प्रयोग किया जा सकता है? आलसिवाइडिस तो एक अद्वितीय सुन्दर पुरुष थे। सुकरातने उन्हें क्या कहा था सो जानते हो तो? उन्होंने कहा था—सुन्दर होनेकी चेष्टा करो। क्या माथेके केशोंको घुंघरारे बनाकर, पांवोंकी रोमावलीको उखाड़कर सुन्दर होगे? —नहीं, ऐसा नहीं होगा। अपनी आत्माको सुव्यवस्थित करो संयत करो; समस्त बुरी चिन्ताओंको आत्मासे दूर करो।

"शरीरके सम्बन्धमें तब क्या करना चाहिये?"

"प्रकृतिने शरीरको जिस तरहसे बनाया है उसे उसी तरहसे रखो। जान रखो, एक दूसरे पुरुष शरीरकी खबरगिरी करते हैं, शरीरको उन्हींके हाथमें समर्पण कर दो।"

"तो क्या शरीरको गन्दा और मैला-कुचैला बनाये रखना होगा?"

"कभी नहीं। तुम वास्तवमें जैसे हो—प्रकृतिने तुम्हें जैसा बनाया है—उसी तरह तुम अपनेको साफ सुथरा रखो। पुरुष पुरुषोंकी तरह, स्त्रियां स्त्रियोंकी तरह और बच्चे बच्चोंकी तरह साफ सुथरे रहें।

३—मैं यह नहीं चाहता कि तत्वज्ञानीका शारीरिक भाव देखकर लोग डरकर तत्वज्ञानसे दूर भागें। जैसे और सब विषयोंमें, वैसे ही शारीरिक विषयमें भी तत्वज्ञानीको सदैव प्रसन्न और निरुद्विग्न रहना चाहिये।

भाइयो ! तुम लोग देखो, मेरे पास कुछ भी नहीं है। मुझे किसी चीजकी भी आवश्यकता नहीं है। देखो, मैं विना घरका विना जमीनका हूं —मैं निर्वासित हूं। यद्यपि मैं गृहहीन हूं तथापि धनी लोग जिन चिन्ताओंसे, जिन मानसिक कष्टोंसे पीड़ित रहा करते हैं, उनसे मैं बचा हुआ हूं। मेरे शरीरको भी देखो; इन कठिनाइयोंके कारण मेरा शरीर तनिक भी खराब नहीं हुआ है। यदि मैं कैदीकी तरह पोशाक पहनकर रहूं तो तत्वज्ञानका उपदेश सुननेके लिये कौन आवेगा ? ऋषि मुनि होनेके लिये यदि इस भावसे रहना हो, तो मैं उस प्रकारका ऋषि-मुनी होना भी नहीं चाहता।

तत्वज्ञानका उपदेश सुननेके लिये जब पहले पहल मेरे पास आवे, तो मैं चाहता हूं कि वह बालोंको बिखराकर नहीं बल्कि सुन्दर घूघरूदार केशोंके साथ मेरे पास आवे ; क्योंकि ऐसा होनेसे मैं यह समझूंगा कि उसे सौन्दर्यका कुछ बोध है। मैं समझूंगा वह जिसको शोभायमान और सुन्दर समझता है उसीके अनुसार वह अपनेको विभूषित करता है। ऐसे आदमीको केवल यही समझा देनेकी आवश्यकता है कि प्रकृत सुन्दर क्या है। मैं उससे कहता हूं—"सौम्य युवक ! तुम सुन्दरताकी खोज करते हो—अच्छा ही करते हो। किन्तु असल सौन्दर्य वहीं है जिस स्थानमें तुम्हारी आत्मा विराजमान —जहां तुम्हारे राग द्वेष हैं, जहां तुम्हारी प्रवृत्ति निवृत्ति हैं, जहां तुम्हारी स्वाधीनता विद्यमान है ; किन्तु तुम्हारा शरीर

मृतपिण्डके सिवा और कुछ नहीं है। तब इस शरीरके लिये व्यर्थ इतना परिश्रम और यत्न करनेकी आवश्यकता क्या? कारण, महाकाल यदि तुम्हें और कोई शिक्षा न भी दे, तो कमसे कम यह शिक्षा अवश्य देगा कि यह शरीर कुछ भी नहीं है। किन्तु यदि मेरे पास कोई ऐसा आदमी आवे जिसका शरीर गन्दा और मैला-कुचैला है, जिसके बाल घुटने तक लटके हैं, तो मैं उससे क्या कहूंगा? किस चीजकी उपमा देकर, किस चीजका दृष्टान्त देकर मैं उसे समझाऊंगा? यदि वह सौन्दर्यकी कोई चर्चा न करे, तो मैं सौन्दर्यसे भिन्न पथ उसके लिये किस प्रकार निर्दिष्ट करूंगा? मैं किस प्रकार उसे समझाऊंगा कि "सौन्दर्य यहां नहीं—यहां ही सौन्दर्य है?" मैं यदि उससे कहूं कि शारीरिक मलीनतापर सौन्दर्य निर्भर नहीं करता—सौन्दर्य आत्माकी वस्तु है—तो क्या वह इसे समझेगा? वह क्या तनिक भी सौन्दर्यकी खोज करता है? क्या उसके मनमे सौन्दर्यका कोई भाव है? मैं यदि एक सूअरको कहूं कि तुम कीचड़में मत लेटो, तो क्या वह मेरी बात सुनेगा?

प्रकृतिका अभिप्राय

जिनसे हम लोगोंका कोई लगाव नहीं है उन्हीं सब विषयोंसे हम लोग प्रकृतिका अभिप्राय जान सकते हैं। जब कोई बालक किसी दूसरे बालकका प्याला तोड़ देता है, तब हम लोग स्वभावतः कहते हैं—"वह संयोगसे टूट गया है।" अतएव दूसरेका प्याला टूटनेपर तुम जिस भावसे देखते हो अपना प्याला टूटनेपर भी तुम्हें उसी भावसे देखना उचित है। और भी बड़े बड़े विषयोंमें इसका प्रयोग करो। किसी दूसरेका लड़का अथवा दूसरेकी स्त्री मर गयी है? यह सुनते ही कौन नहीं कहेगा -"यह विधाताका अखण्डनीय नियम है, यही मनुष्योंकी साधारण गति है।" किन्तु जब तुम्हारा अपना लड़का अथवा तुम्हारी अपनी स्त्री मृत्यु-मुखमें पड़ती है, तब तुम कहते हो -"हाय! मैं कैसा अभागा हूं।" किन्तु ऐसे समयमें एक बार तुम्हें यह विचारकर देखना चाहिये कि दूसरेके अवसरपर तुमने किस प्रकार विचार किया था। प्रकृतिका नियम सबके लिये ही समान है।

महाप्रस्थान

१—यदि कोई मेरे पास आकर कहे—"एपिक्टेटस! मैं अपने शरीरके साथ अब बंधा नहीं रह सकता—अब मुझसे यह सहा नहीं जाता; इस शरीरके खाने पीनेका प्रबन्ध करना होगा इसे विश्राम देना होगा, साफ-सुथरा रखना होगा; इस अभागे शरीरके लिये कितने ही लोगोंके द्वारपर जाना होगा। यह सब क्या हम लोगोंकी उपेक्षाके विषय नहीं हैं? यह सब क्या हम लोगोंके लिये अत्यन्त तुच्छ पदार्थ नहीं हैं? और मृत्यु भी तो अमङ्गल नहीं है। एक हिसाबसे क्या हम लोग ईश्वरके आत्मीय नहीं हैं? क्या हम लोग उसके निकटसे नहीं आये हैं? अतएव जहांसे आये हैं वहीं हम लोग चले जायं! जिन सब बन्धनोंसे हम लोग यहां बंधे हैं और जिन बोझोंसे दबे हुए हैं, आओ हम लोग उन बन्धनोंसे मुक्त हों! यहां डाकू हैं, चोर हैं, आइन-अदालत हैं, और हम लोगोंके वह सब प्रभु हैं जिनका बहुत कुछ अधिकार अपने शरीरपर—अपनी धन-सम्पत्तिपर हम समझते हैं। अतएव आओ, हम लोग उन्हें दिखा दें कि किसी मनुष्यके ऊपर उन लोगोंका तनिक भी अधिकार नहीं है।" इन बातोंके मैं उत्तरमें इस प्रकार कहता हूं:—

"भाइयो! ईश्वरके आदेशकी प्रतीक्षा करो। वह जब स्वयं इशारा करेंगे—तुम्हारे कामसे तुम्हें छुट्टी देंगे, तभी तुम

मुक्त होकर उनके पास जाओगे। किन्तु अभी जिस जगह उन्होंने तुम्हें रखा है उसी जगह धैर्यके साथ रहो। वस्तुतः थोड़े ही दिनों तक तुम्हें इस प्रवासमें रहना होगा—जो लोग इस भावसे देखते हैं वे आसानीसे यहांके सब कष्टोंको सह सकते हैं। कारण, जिनके निकट शरोर कुछ नहीं है, धन-सम्पत्ति कुछ नहीं है, उन्हें क्या कोई राजा, कोई शत्रु अथवा कोई आइन-अदालत भय दिखा सकती है? अतएव, यहीं रहो, विना कारण इस जगहसे प्रस्थान मत करो।"

२—"अच्छा, कितने दिनों तक इस आदेशका पालन करना होगा?"—जितने दिनों तक तुम्हारे लिये हितजनक हो उतने दिनों तक; अर्थात् जितने दिनों तक तुम अपने उपयुक्त कर्मोंको करनेमें समर्थ होओ।

३—किसी अनुचित कारणसे या कायरकी तरह अथवा किसी तुच्छ विषयका बहाना करके, इस लोकसे प्रस्थान मत करना। फिर भी कहता हूं कि यह ईश्वरकी इच्छा नहीं है। कारण, पृथ्वीकी वर्त्तमान व्यवस्था-प्रणाली और वर्त्तमान मनुष्य जातिके वंश-प्रवाहकी रक्षा करना ईश्वरका अभिप्राय है। यह ज्ञान रखना कि इसके द्वारा ईश्वरका कोई गूढ़ प्रयोजन सिद्ध होता है।

आत्मशक्तिका ज्ञान और साधना
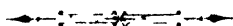
१—जो तुम्हारे सामर्थ्यके बाहर है ऐसे कार्यमें यदि तुम प्रवृत्त होओ, तो तुम्हें निश्चय ही लज्जित होना पड़ेगा; केवल यही नहीं, जो कार्य तुम्हारे द्वारा उत्तम रूपसे सम्पन्न हो सकता है वह भी बिगड़ जायगा।

२ एक आदमीने पूछा—"मैं यह कैसे जानूंगा कि मैं किस कार्यके लिये उपयुक्त हूं?" एपिक्टेटसने उत्तर दिया—"सिंह जब निकट आता है तब बैल क्या अपनी शक्तिको नहीं समझता और सब गायोंके झुण्डकी रक्षा करनेके लिये क्या वह अकेला आगे नहीं बढ़ता? अतएव जिसे शक्ति है उसे अपनी शक्तिके सम्बन्धमें ज्ञान भी है। जैसे बलवान बैल क्षणभरमें तैयार नहीं होता, वैसे ही महान् मनुष्यका महत् चरित्र भी क्षणभरमें गठित नहीं होता। शक्ति प्राप्त करनेके लिये कठोर साधना चाहिये। विना साधनाके छोटे दिलसे किसी दुःसाध्य कार्यकी ओर दौड़ना एकदम अनधिकार चर्चा है, यह जान रखना।
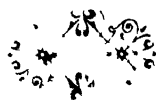
और कितने दिन ?

१—कितने दिनोंमें तुम श्रेष्ठ कार्य करनेकी योग्यता प्राप्त करोगे ? विवेकबुद्धिकी किसी प्रकार भी उपेक्षा न करो—यह शिक्षा तुम्हें कब प्राप्त होगी ? उपदेश तो बहुत पा चुके हो, किन्तु उसके अनुसार क्या तुम कार्य करते हो ? अपने चरित्रके संशोधनके लिये अभीतक किसी गुरुकी राह देख रहे हो ? तुम तो बालक नहीं हो, तुम अब जवान मनुष्य हुए। अपने चरित्रका संशोधन करनेमें अब भी यदि लापरवाही करो, यत्नमें ढिलाई करो, बराबर प्रतिज्ञापर प्रतिज्ञा किया करो, प्रतिदिन ही यदि सोचो कि आज नहीं—कलसे मैं कार्य आरम्भ करूंगा, तब तुम उन्नतिके पथपर एक पग भी आगे न बढ़ सकोगे—जो लोग जीवन्मृत अवस्थामें हैं उन्हीं तुच्छ हतभाग्य दूसरे लोगोंकी तरह तुम्हें जीवन-निर्वाह करना होगा।

२—अतएव जवान मनुष्यके लिये जो उपयुक्त है—उन्नतिशील मनुष्यके लिये जो उपयुक्त है, वैसे कार्यमें अभी लग जाओ। जो कुछ तुम उत्तम समझते हो उसे ही अपने जीवनका बीज-मंत्र बना लो। वृथा समय नष्ट मत करो। शुभ अवसरको मत खोओ। हम लोगोंका यह जीवन एक भारी रणक्षेत्र है। एक दिनके युद्धमें ही जय अथवा पराजय हो सकती है।

३—सुकरातकी दृष्टि विवेकके सिवा और किसी वस्तुके प्रति आबद्ध नहीं थी, इसीसे वह इतना महत्व प्राप्त करनेमें समर्थ हुए थे। तुम सुकरात नहीं हो सकते, किन्तु सुकरातकी तरह अपनी जीवन-यात्राका निर्वाह करना तुम्हारी शक्तिके बाहर नहीं है।

स्मरण रखनेकी बात

विपद्-आपद्के लिये सदैव इन बातोंको अपने सामने प्रस्तुत रखना :

"हे ईश्वर, हे विधाता, तुम मुझे जहां जानेको कहो उस स्थानपर मैं निर्भय होकर जा सकूं : कुमतिकी प्ररोचनासे यदि कभी मुझमें अनिच्छा उत्पन्न हो तोभी मैं तुम्हारे आदेशका पालन करनेमें समर्थ होऊं।"

"वही आदमी हम लोगोंमें ज्ञानी है, वही दैवी व्यापारोंको समझनेमें समर्थ है, जिसने भवितव्यताके साथ एक प्रकारसे समझौता कर लिया है।"

"देवताओंकी जो इच्छा है वही पूर्ण हो। मृत्यु मेरे शरीरका नाश कर सकती है, मेरी आत्माकी कोई हानि नहीं कर सकती।"

मालव-मयूर

राजस्थान (मध्यभारत और राजपूताना) का सचित्र मासिक पत्र, आकार बड़ा; पृष्ठ-संख्या ४०; मूल्य ३॥ वार्षिक।

सम्पादक

पं० हरिभाऊ उपाध्याय, महात्मा गांधीके "हिन्दी-नवजीवन"के उपसम्पादक।

मयूरका जीवन-कार्य

असत्य, अन्याय और अत्याचारका निर्भयता, शान्ति और विनय-पूर्वक विरोध करना तथा राजस्थानकी आन्तरिक शक्तिको जागृत और विकसित करना।

मयूरकी विशेषतायें

१. सत्य, शान्ति और प्रेम इसके जीवनका धर्म है।

२. यह विश्व-बंधुत्वका प्रेमी, राष्ट्रीय धर्मका उपासक और भारतीयताका अभिमानी है।

३. यह विवेक-पूर्वक प्राचीनताकी रक्षा करता है और नवीनताका स्वागत।

४. देशी-राज्योंको यह ममत्वकी दृष्टिसे देखता है।

५. विज्ञापनबाजीके अनर्थसे समाजको बचानेके लिये इसमें विज्ञापन नहीं लिये जाते। सिर्फ लोकोपयोगी विज्ञापन मुफ्त छाप दिये जाते हैं।

६. ललित कलाओंके नामपर विषय-विलास-प्रेरक सामग्रीका प्रचार करनेकी प्रवृत्तिका यह विरोधी है।

७. छपाई, कागज तथा पोस्टेजके अलावा किसी किस्मका खर्चा इसपर नहीं लगाया जाता है।

नोट—सस्ता-साहित्य-मंडलकी उन्नतिके सम्बन्धमें तथा कौन कौनसी पुस्तकें निकलीं और निकल रही हैं आदि सब बातोंका उल्लेख इस पत्रमें विशेष रूपसे रहता है।

कुछ सम्मतियोंका सार

पू० पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी —"मालव-मयूर" बहुत अच्छा निकला। छपाई और कागज उत्तम है। भाषा और विषय-योजना भी ठीक है।

सरदार माधवराव विनायक किबे —मेरा यह दृढ विश्वास हो गया है कि यह एक उच्च कोटिका मासिक-पत्र है।

सर्वेन्ट आव् इंडिया—......ने एक महत्वपूर्ण पत्रकी वृद्धि की है। इस मासिक-पत्रका सम्पादन वे विशेष योग्यता और पूरी जिम्मेवारीके साथ करते है, जो कि हमे महात्मा गांधीकी प्रत्यक्ष देख-भालमे तालीम पाये सज्जनोंमें दिखाई देती है।

प्रताप—"मालव-मयूर" में मौलिकता और सात्विकता है। अधिक विचार और विवेकके साथ चुनी हुई बहुतसी टिप्पणियां इसमें रहती है। हमे विश्वास है कि "मयूर" का मीठा और सात्विक ढग अपना रंग अवश्य लावेगा और उससे म० भा० और रा० पू० के लोगोंकी अत्यन्त निर्बल और निर्जीव आत्माको बल मिलेगा।

मतवाला—सभी संख्यायें एकसे एक बढ़कर है। कवितायें और लेख बड़े ही सुन्दर, सरस और निर्दोष होते है। सपादकीय अंश अत्यन्त प्रशंसनीय होता है। अधिक पृष्ठ-संख्या वाले पत्र 'मयूर' से शिक्षा ग्रहण करें।

जयाजी प्रताप—लेख उच्च कोटिके है। उनपर दृष्टि रखते हुए अगला नबर पिछलेसे बढा चढा मालूम होता है।...की टिप्पणियोंमे sense of proportion और sense of responsibility होती है, जिसकी इस समयके बहुतसे संपादकोंमें कमी नजर आती है।

कविकौमुदी—इसके सम्पादक हिन्दीके अच्छे और विचारशील लेखकोंमे है। संपादकीय नोटोंमे, उनकी स्पष्ट-वादिता, निर्भीकता और उत्तम विचारशैली देखकर चित्त प्रसन्न होता है।

पता—मालव-मयूर, अजमेर,
(राजपूताना)

लागत मूल्यपर हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित करनेवाली

एक मात्र सार्वजनिक संस्था

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक-मंडल, अजमेर

उद्देश्य—हिन्दी साहित्यमें उच्च और शुद्ध साहित्यके प्रचारके उद्देश्यसे इस मण्डलका जन्म हुआ है। विविध विषयोंपर सर्वसाधारण और शिक्षित समुदाय, स्त्री और बालक सबके लिए उपयोगी और सस्ती पुस्तकें इससे प्रकाशित होंगी।

इस मण्डलके सदुद्देश्य, महत्व और भविष्यका अन्दाज पाठकोंको होनेके लिए हम सिर्फ उसके संस्थापकोंके नाम दे देते हैं—

मंडलके संस्थापक—(१) सेठ जमनालालजी बजाज वर्धा, (२) सेठ घनश्यामदासजी बिडला कलकत्ता (सभापति) (३) स्वामी आनन्दजी (४) बाबू महाबीरप्रसादजी पोद्दार (५) डा० अम्बालालजी दधीच (६) पं० हरिभाऊ उपाध्याय (७) बा० जीतमल लूणिया अजमेर (मन्त्री)

पुस्तकोंका मूल्य—(१) प्रथम श्रेणीके स्थाई ग्राहकोंके लिये लगभग लागत मात्र रहेगा अर्थात् उन्हें लगभग १६०० पृष्ठोंकी पुस्तकें ३) में मिलेंगी। इस तरह उन्हें १) में ५०० से ६०० पृष्ठों तककी पुस्तकें मिलेंगी। अर्थात् पुस्तकपर छपे मूल्यसे पौनी कीमतसे भी कुछ कममें उन्हें मिलेंगी। (२) द्वितीय श्रेणीके स्थाई ग्राहकोंसे पुस्तकपर छपे मूल्यपर (सर्वसाधारणके लिये) तीन आना रुपिया कमीशन कम करके मूल्य लिया जायगा अर्थात् उन्हें १) में लगभग साढे चारसो पृष्ठोंकी पुस्तकें मिलेंगी (३) सर्वसाधारणको १) में लगभग चारसो पृष्ठोंकी पुस्तकें मिलेंगी। सचित्र पुस्तकोंका कुछ मूल्य अधिक रहेगा।

हमारे यहांसे प्रकाशित होनेवाली दो मालाएँ

हमारे यहांसे सस्ती साहित्य माला और सस्ती प्रकीर्णक पुस्तक माला ये दो मालाऐं निकलती हैं। वर्ष भरमें प्रत्येक मालामें लगभग सात आठ पुस्तकें (कम या ज्यादा) निकलती हैं और इन सब पुस्तकोंकी पृष्ठ-संख्या मिलाकर लगभग १६०० पृष्ठोंकी होती है।

प्रथम श्रेणीके स्थाई ग्राहक

स्थाई ग्राहक होनेके नियम

नोट—मालासे निकली हुई पूर्व प्रकाशित पुस्तकें चाहे वे लें या न लें पर आगे प्रकाशित होनेवाली पुस्तकोंकी एक एक प्रति उन्हें अवश्य लेनी होगी।

(१) वार्षिक ग्राहक—चूँकि प्रत्येक पुस्तक वी० पी० से भेजनेमें पोस्टेज-के अलावा ।) प्रति पुस्तक वी० पी० खर्च ग्राहकोंको अधिक लग जाता है अतएव यह सोचा गया है कि वार्षिक ग्राहकोंसे प्रति वर्ष ४) पेशगी लिया जाय अर्थात् तीन रुपया १६०० पृष्ठोंकी पुस्तकोंका मूल्य और १) डाक खर्च। वार्षिक ग्राहक जिस वर्षके ग्राहक बनेंगे उस वर्षकी सब प्रकाशित पुस्तकें उन्हें लेनी होंगी।

(२) जो सज्जन ॥) प्रवेश फीस देंगे उनका नाम भी स्थाई ग्राहकोंमें सदाके लिये लिख लिया जायगा और ज्यों ज्यों पुस्तकें निकलती जावेंगी वैसे वैसे पुस्तकका लागत मूल्य और पोस्टेज खर्च जोड़कर वी० पी० से भेज दी जावेंगी।

नोट—इस तरह प्रत्येक पुस्तक वी० पी० से भेजनेमें वर्ष भरमें कोई दाइ रुपया पोस्टेजका खर्च ग्राहकोंको लग जायगा।

हमारी सलाह है कि आप वार्षिक ग्राहक ही बनें।

क्योंकि इससे आप बार बार वी० पी० छुड़ानेके झंझटसे बच जावेंगे और पोस्टेजमें भी आपको बहुत ही किफायत रहेगी। और स्थाई ग्राहक फीसके आठ आने भी आपसे नहीं लिये जावेंगे।

द्वितीय श्रेणीके स्थाई ग्राहक

(१) जो सज्जन मालासे निकलनेवाली सब पुस्तकें न लेना चाहें, अपने मनकी पुस्तकें लेना चाहें वे ऊपर लिखे नं० २ के प्रवेश फीस वाले ग्राहक हो सकते हैं। पर उन्हें वर्षभरमें कमसे कम २) मूल्यकी पुस्तकें जिस मालाके वे ग्राहक बनें उस मालाकी लेनी होंगी।

नोट—आप जिस मालाके जिस श्रेणीके वार्षिक या प्रवेश फीस वाले ग्राहक बनना चाहें खूब स्पष्ट लिखें। दोनों मालाओंके बनना चाहें तो वैसा लिखें।

सस्ती साहित्य मालासे प्रकाशित पुस्तकें (प्रथम वर्ष)

(१) द० आफ्रिकाका सत्याग्रह (म०गांधी) पृष्ठ २७२ मूल्य ॥) (२) शिवाजीकी योग्यता-पृष्ठ १३२ मूल्य ।≈) (३) दिव्य जीवन पृष्ठ १३६ मूल्य ।=) (४) भारतके स्त्री रत्न-पृष्ठ ४०२ मूल्य १=) (५) व्यावहारिक सभ्यता-पृष्ठ १०८ मूल्य ।)॥ (६) आत्मोपदेश पृष्ठ ११२ मूल्य ।-)

सस्ती प्रकीर्णक पुस्तक मालासे प्रकाशित पुस्तकें (प्रथम वर्ष)

(१) कर्मयोग-पृष्ठ १५२ मूल्य ।=) (२) सीताजीकी अग्नि-परीक्षा-पृष्ठ १२४ मूल्य ।-) (३) कन्या शिक्षा-पृष्ठ ९६ मूल्य ।) (४) यथार्थ आदर्श जीवन-पृष्ठ २६४ मूल्य ॥-) (५) स्वाधीनताके सिद्धान्त (टेरेन्स मेकसविनी) पृष्ठ २०८ मूल्य ॥)

☞ स्थाई ग्राहकोंसे पिछले पृष्ठपर दिये हुए "पुस्तकोंका मूल्य" इसके अनुसार ही मूल्य लिया जायगा।

पता—सस्ता साहित्य प्रकाशक मंडल, अजमेर
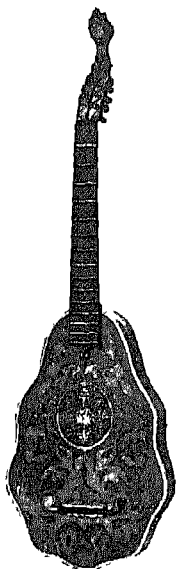
A musical instrument of the time of Elizabeth It is called a Cittern

Roads and Travel

The usual mode of travel in Tudor times was on horseback for the rich, and on foot for the poor, while teams of pack-horses carried goods from village to village. Coaches were first introduced into England in Elizabeth's reign, but they were very simple in design, being without springs, and having only curtains to protect the occupants from wind and weather. They were seldom used, except for special occasions. The country roads were still very rough, and almost impassable in winter, when their muddy state made travelling very uncomfortable and dangerous. It was a daily occurrence at this time of the year for wagons to get stuck in the deep ruts, where they had to stay until help came from the nearest farm. The following extract by Defoe describes the country roads of this period:

" The highways lie in a most shameful manner in most parts of the kingdom, and in many places wholly impassable. I have seen the road, sixty to a hundred yards broad, lie from side to side all poached with cattle, the land of no manner of benefit, and yet no going with a horse but at every step up to the shoulders, full of sloughs and holes and covered with standing mud "

An Act had been passed in 1555 which commanded the churchwardens and the constable of

every parish to summon the parishioners together in Easter week, to choose "two honest persons to be called Surveyors for one year of the works for the amendment of the Highways in their Parish
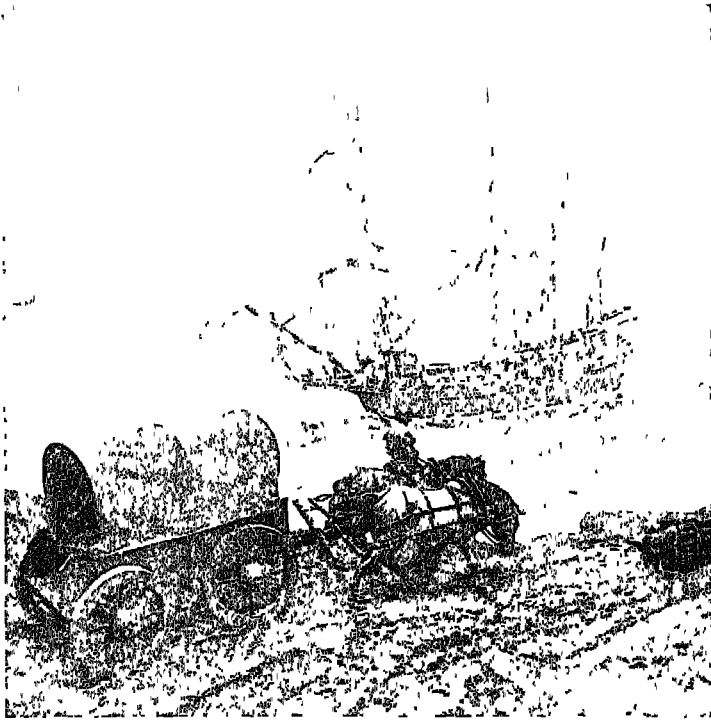
Transport in Tudor times

leading to any Market Town". The persons elected were compelled to take office or pay a fine of £5 to the local Justice of the Peace. Their duties were certainly not pleasant, for three times a year they had to "view all roads, highways, water-

courses, bridges, and pavements, within the precincts", send a faithful report of them to the Justice of the Peace, and then, where necessary, get their fellow parishioners to repair them, each one called upon being compelled by Statute to work for six days unpaid "Every householder, cottager, and labourer, able to labour and being no hired servant, was either to go himself to work or to send one sufficient labourer in his stead." But this system was very unsatisfactory, for neither the Surveyor nor the workers knew anything of the job in hand.

Other perils besides bad roads awaited unfortunate travellers, for the forest land on either side of the lonely roads was infested with robbers and outlaws, who lay in wait to plunder and often to slay their unlucky victims Thus, whenever possible, a number of travellers journeyed together for safety On the main roads there were plenty of inns and alehouses where shelter and refreshment could be obtained; but the sleeping traveller always kept his weapons by his bedside in case of attack, and slept with his purse beneath his pillow.

A Tudor Town

As England had developed into a wool manufacturing country of much importance during the sixteenth century, many towns had sprung up all over the land The manufacture of cloth was taught in the remotest villages and hamlets by the Flemings, who had come over in increasing numbers to seek refuge from the religious strife abroad. Thus

specialized forms of the wool trade were appearing in different parts of England The worsted trade was carried on mainly in the eastern counties; the making of broadcloth in the west, while the north, which had been almost a barren waste since it was devastated by fire in William the Conqueror's reign, was now becoming peopled, and Manchester, York, and Leeds were becoming famous for the manufacture of various kinds of cloth.

As a rule, the streets in the towns were very narrow and the roads were unmade; there was merely a narrow path next to the houses which was roughly cobbled A deep hollow, or kennel, ran down the middle of the road, and the refuse which collected there was washed down by the rain to the river or to the bottom of the hill, where it lay until someone cleared it away. Thus bad smells abounded, and plagues visited the towns from time to time.

The houses in these narrow town streets were of wood and plaster, and the second storey so far overhung the first, that it was quite easy to lean out of your window and shake hands with your neighbour on the opposite side of the road This made the streets dark and stuffy, for little fresh air or sunshine could penetrate there.

Signs swung from the shop doors to tell the kind of wares that were sold within, and at night, lanterns were hung outside many of the houses to light up the way

On Feast days in London, it was the custom for well-to-do townsmen to load tables outside their houses with good fare, and invite the passers-by to

join them in their merry-making. Apprentices were easily recognized by their uniform—a flat cap, blue gown, and white breeches and stockings—and when their work for the day was done, they played football and other games in the streets, often to the annoyance of peaceful citizens. Brawls, too, were common, in which the apprentices were almost always concerned.

Most of the shops were open to the street—the shutters being removed during the day and used as a counter for the display of the goods for sale, unless there was a special stall in the window. Almost all the business was done in the street, and one of the apprentices generally stood outside the shop shouting, " What d'ye lack; Come buy, come buy ", at the same time keeping an eye on his master's goods, for thieves abounded in the town as in the country. Up to Tudor times, all the wares were made on the premises where the merchant, his family, and apprentices lived; but now, shops where the goods were merely sold were springing up, and so, much more space was devoted to the display of the articles for sale

In the early days of the gilds, it had become the custom for all the shops of one trade to occupy their own part of the town, so that the goods could be easily supervised. The mercers lived on London Bridge, the bankers in Lombard Street, the grocers in Buckersbury, and the booksellers in St. Paul's Churchyard Cheapside was the most fashionable and most frequented street, " chepe " meaning market.

We are told that Queen Elizabeth, fearing that London was becoming overcrowded, although its population was only about the same as that of Brighton to-day, forbade the erection of further houses in the city or within three miles of the city walls. But London, in spite of this, continued to grow.

HEADINGS AND HINTS FOR NOTES

LIFE IN TUDOR TIMES

(*a*) *The Manor House* Gateway—park—deer—red brick—tall chimneys—turrets, &c —flower beds—lake—bowling green—wide chimney piece—tapestries—wood carving—beds—servants—library—herbs—food—garden produce—beverage

(*b*) *Dress*

1 *Ladies.* Costly —Queen's dress — Court robes — jewels—ruff—stockings—hair

2 *Gentlemen* Doublet — breeches — hose — bright colours—ruff—cloak—hat.

(*c*) *Sports and Pastimes.* Feast Days—May Day—Morris Dancers — Wrestling — Fencing — cock fighting — cruel sports — hunting — hawks — tennis — chess — music — needlework.

(*d*) *Road and Travel* Horseback—coach—roads rough—dangerous—robbers—travellers—inns—weapons

(*e*) *Towns* Manufacture of cloth—worsted—broadcloth—north—streets—kennel—houses—signs—lanterns—feast days — apprentices — football — brawls — shop shutters—making of wares—situation of trades—Cheapside—London.

EXERCISES

1. Describe briefly the exterior of a Manor House and its grounds

2 Suppose you could visit an Elizabethan Manor House—what would you see within?

3 Describe the Court dress of either a lady or a gentleman of Elizabeth's time

4 Say what you know of Feast Days, May Days, Morris Dancers

5 Give a list of the games played during this period, and describe one in detail.

6 What do you think of some of their sports?

7 Why was travel difficult and dangerous?

8 What do you know about apprentices?

9 Describe a Tudor Town

10 How had the conditions of life improved since Mediæval days?

11 Say what was grown in the kitchen gardens of Tudor times By whom had most of these things been introduced?

EXTRACT

Improvements in Tudor Times

"There are old men yet dwelling in the village where I remaine, which have noted three things to be marvellouslie altered in England within their sound remembrance, and other three things, too, too much increased One is the multitude of chimneys latelie erected, whereas in their yoong daies there were not above two or three, if so many, in most uplandish townes of the realme, but each one made his fire against a reredosse in the hall, where he dined and dressed his meat

"The second is the great (although not generall) amendment of lodging for (said they) our fathers (yea and we

ourselves also) have lain full oft upon straw pallets on rough mats covered onelie with a sheet, under coverlets made of dagswain or hopharlots (I use their owne termes) and a good round log under their heads, instead of a bolster or pillow If it were so that our fathers or the good man of the house, had within seven yeares after his mariage purchased a matteres or flockebed, and thereto a sack of chaffe to rest his head upon, he thought himself to be as well lodged as the lord of the town, that peradventure laie seldome in a bed of downe or whole feathers.

" The third thing they tell of, is the exchange of vessell, as of treene (made of tree) platters into pewter, and wooden spoones into silver or tin .

" The farmer to-day will thinke his gaines verie small toward the end of his terme, if he have not six or seven yeares rent lieing by him to purchase a new lease, beside a faire garnish of pewter on his cup bord, with so much more in od vessell going about the house, three or foure featherbeds, so manie coverlets and carpets of tapistrie, a silver salt, a bowle for wine, and a dozzen of spoons "—William Harrison *The Description of England, Book II, Ch XII.*

EXERCISES ON EXTRACT

1. Mention any improvements made in Manor Houses during Tudor days

2. What caused the increased prosperity of the farmer class in the later part of the 16th century?

BOOKS FOR REFERENCE AND ADDITIONAL READING

L F Salzan *England in Tudor Times*
Whicher and Mitchell *English People of the Past, Vol II.*
M. B Synge *Social Life in England*

SEVENTH PERIOD

THE HOUSE OF STEWART

James I

In 1603, when Queen Elizabeth died, a messenger rode post-haste to Edinburgh, to inform James VI of Scotland, son of the ill-fated Mary Queen of Scots, that he had been proclaimed James I, King of England, before the Palace of Whitehall. So England and Scotland were henceforward to be ruled by one sovereign. Another century was to pass, however, before they were governed by the same Parliament, for although James was very anxious for the complete union of the two countries, the English Parliament did not wish it, and Scotland continued to make her own laws until 1707

James, the first king of the Stewart line, was nearly thirty-seven years old. He had been King of Scotland almost from his cradle, for when his mother was imprisoned in Loch Leven Castle, she was compelled by the Scots to resign her throne to her infant son, then barely a year old.

James had been brought up by the " Lords of the Congregation ", that strict body of Scottish Presbyterians who governed the Church of Scotland, and who resisted all attempts at control by the Crown In religion, therefore, he was certainly a Protestant, accepting the doctrines of John Calvin, who was the founder of the Presbyterian sect.

Nevertheless, James hated the Presbyterian system of Church government, and was strongly in favour of the Episcopal Church with rule by bishops, appointed by, and under the direct control of the Sovereign This, of course, was the system of the Established Church in England, and throughout his reign, James was strongly supported by the High Church party In character James Stewart was described by a French statesman as "the wisest fool in Christendom".
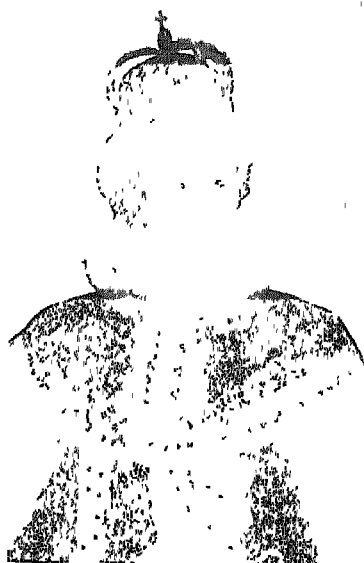
James I

There was nothing of the Tudor majesty about the new king, for he was not attractive either in appearance or manners A writer of the time thus describes him. "He was of middle stature, more corpulent through his clothes than in his body, yet fat enough, his clothes ever being made large and easy, the doublet quilted so as to be proof against stilettos; he was naturally of a timorous disposition, which accounted for his quilted doublets; his eye large, ever rolling after any stranger who came in his presence His beard was very thin; his tongue too large for his mouth, which made him drink very uncomely, as if eating his drink, which

came out into the cup at each side of his mouth His skin was as soft as taffeta sarsenet, which felt so, because he never washed his hands, only rubbed his finger ends slightly with the wet end of a napkin. His legs were very weak, which weakness made him ever leaning on other men's shoulders; his walk was ever circular."

However, James I was a man of considerable learning, but he lacked statesmanship. Unlike the Tudors, he was no judge of character, and, after the death of his wise counsellor, Robert Cecil, the son of Elizabeth's great minister, Lord Burghley, he chose men of little wisdom, and ruled entirely under the influence of his favourites. The first of these was a young Scottish page, Robert Carr, who was made Earl of Somerset. After a brief period he became involved in the murder of Sir Thomas Overbury, an old friend, and on the charge being proved, he was dismissed from the Court in disgrace.

George Villiers, a handsome young adventurer, had a very rapid rise to fame. He attracted the attention of James by his good looks and his charming personality James made him Duke of Buckingham, and entrusted him with the highest offices of state. So great was his influence with the king, that the most powerful nobles in the land feared to offend him "Never any man in any age, nor, I believe, in any country," says Clarendon, "rose in so short a time to so much greatness of honour, power or fortune, upon no other recommendation than of the beauty or gracefulness of his person."

Boys' games in the seventeenth century

1 Playing marbles, 2, 3, ninepins, 4, 5, knocking a ball through a hoop, 6, 7, whip-top, 8, shooting with a blowpipe, 9, a crossbow, 10 stilts, 11, swinging

This was the man who, in the next reign, was destined to cause so much trouble between king and people

Authorized Version of the Bible

Although the religious settlement in the reign of Elizabeth had done much to solve the religious question in England, there was still much dissension in the Church. The Catholics, on the one hand, were ever striving for a return to Papal authority, while the Puritans viewed with the gravest disapproval the ceremonies and adornments of the recognized Church, pleading that the images,

pictures, vestments, and stained-glass windows caused their minds to wander from God. They demanded the right to worship in a simpler way, and objected to the use of the Prayer Book, because they claimed that Prayers from the heart were more to God's liking than those from the printed page.

Both these religious parties looked with high hopes for concessions from James. The Catholics thought that, as his mother, Mary Queen of Scots, had been a staunch Roman Catholic, he would surely favour their cause. On the other hand, the Puritans remembered his strict upbringing among the Scottish Presbyterian Reformers, and hastened to present to him a Petition, asking for changes in the form of worship and a much simpler church service.

James called to mind that the Scottish Presbyterians had entirely disregarded his authority before he became King of England, and he therefore strongly supported the rule of bishops in the Church. He was wont to say, "No bishop, no king", meaning thereby, that the next step after doing away with bishops would be doing away with kings.

However, James summoned four of the Puritan leaders to meet him and his Churchmen at a Conference at Hampton Court in 1604. None of their demands was granted, and only a few minor alterations were made in the Prayer Book. But, as a result of this Conference, the Bible was rewritten by a committee of forty-seven selected men, who worked for seven years faithfully and carefully revising the edition then in use. You will remember that, in the fourteenth century, Wycliffe had made

the first translation of the Bible from the Greek form into English, and in Henry VIII's reign, other versions had been made by Tyndale and Coverdale. The result of the labours of this committee was the Authorized Version of the Bible, published in 1611, and described as " the most majestic in our literature, and the most spiritually living thing which we inherit ". It was dedicated to King James, and at the beginning of the Bible you can still read the letter written to him by the committee when their work was completed.

The Pilgrim Fathers

James found the Puritans stubborn in their demands for freedom of worship, and he decided that they should either obey the laws of his Church, or he would drive them out of the land. So harshly were they treated, that many Puritan clergy gave up their livings and went abroad. Some settled in Holland, while, in 1620, one hundred and two Puritans set sail from Plymouth in a little ship called the *Mayflower*, on a long perilous voyage to find a land where they would be free to worship God as they thought right

For many weeks the little craft of these Pilgrim Fathers, as they were afterwards called, sailed on, tossed by the storms of the Atlantic. Finally they sighted land. Their goal was Virginia—the colony founded by Raleigh in the previous reign—but the *Mayflower* came to land much farther north, near Cape Cod. They called their country New England, and for many years the little colony of
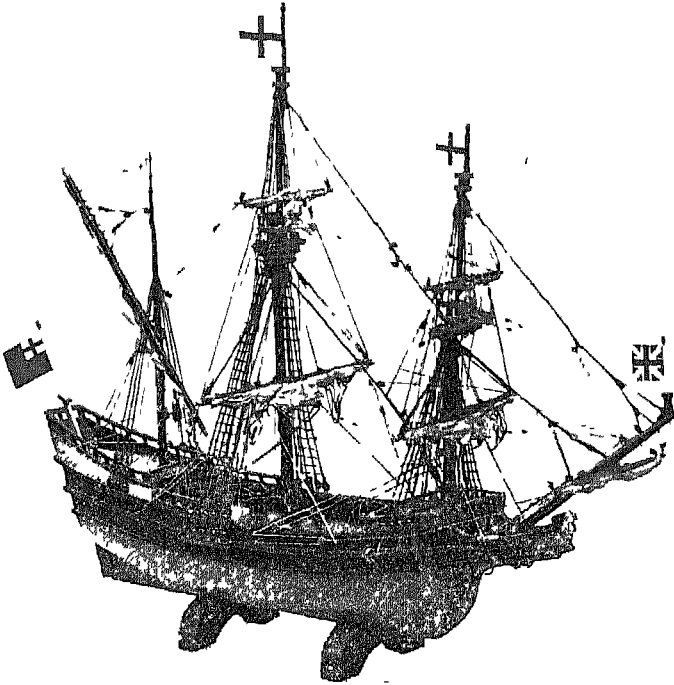
The *Mayflower*

settlers suffered great hardships, and they were never far from starvation. But they were brave, strong, and determined, and in the end founded the town of Plymouth, which became a prosperous centre. Time passed, and the settlements developed into the great republic now known as the United States of America

The Gunpowder Plot

The Roman Catholics were bitterly disappointed at the attitude of James towards Roman Catholicism,

and angry at the harsh measures and heavy fines imposed on them because they refused to attend divine service on Sundays. So a plot was made to rid England of the king and his nobles. It was planned to blow up the Houses of Parliament on the day fixed for the reassembly of the members. Robert Catesby, a Warwickshire squire, was the leader of this foolhardy plot, and, together with several Catholic gentlemen, he arranged to hire the cellars under the Houses of Parliament. An old soldier named Guy Fawkes was put in charge of the digging operations, and the day before Parliament met, all was ready. Twenty barrels of gunpowder had been secretly deposited in the cellars, and carefully covered with coal and faggots of wood One of the plotters, Lord Tresham, sent an unsigned letter to a relative, Lord Monteagle, whom he wished to warn This is what he said, "My lord, devise some excuse to shift of your attendance to this Parliament, which shall receive a terrible blow, yet shall not see who hurts them".

The letter was shown to Cecil, the King's wise minister, who took it to James himself. With thoughts of the death of his father, Darnley, by gunpowder, James ordered the cellars underneath the Houses of Parliament to be searched on the night of 4th November, 1605 Guy Fawkes was arrested where he stood guarding the barrels of gunpowder. He was tortured most cruelly to reveal the names of his fellow conspirators, and refused to do so, until his sufferings were so frightful that he could no longer keep silence. All the captured

plotters were executed with Guy Fawkes the following year, and great indignation was aroused all over England against the Roman Catholics as a result of the "Gunpowder Plot". Laws against them were made much more severe, and all hope of toleration for Catholics was over.

The Houses of Parliament are still searched before Parliament reassembles each session, and the 5th of November is celebrated with bonfires, fireworks, and the burning of "guys".

Divine Right of Kings

James Stewart came to rule England with the firm idea that, as he was God's chosen representative, no man must resist his will, which was above all law. "It is high contempt in a subject, to dispute what a king can do, or to say that a king cannot do this and that," he said This foolish belief, held by all the Stewart kings, that their subjects owed complete obedience to them because they were appointed by God, was the cause of that long struggle between King and Parliament which ultimately resulted in the Civil War, and in the loss of his life by King Charles, the son of James I.

The King and Parliament

English Parliaments had long maintained their rights. As far back as 1215, when Magna Carta was signed, an English king had been brought to bay, and forced to redress grievances before supplies were granted. The power of Parliament had continued to grow since that time, so that James was
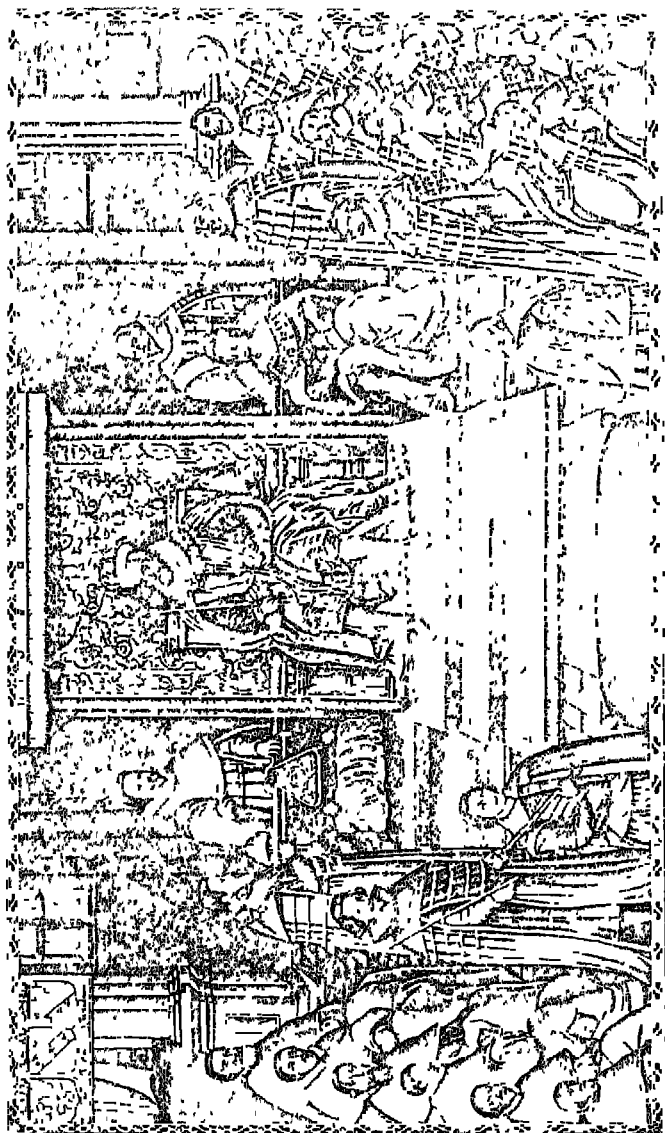
James I sitting in Parliament

face to face with the long-established Statutes made in Plantagenet days, that there could be no taxation except by consent of Parliament. In other words, Parliament held the purse strings of the nation

James, therefore, summoned Parliament, and, finding they could not agree, dismissed them again and again. As a matter of fact, he ruled without a Parliament during half of his reign, and in consequence he was obliged to resort to illegal methods of taxation, to provide himself with enough money for his personal wants and gaieties He collected benevolences, or forced loans, and sold monopolies freely. Further, the sale of baronetcies, a new and higher order of knighthood than that already existing, also provided him with large sums of money. In addition to the usual customs duties of tonnage and poundage, which had always been granted to the Sovereign, James " imposed " extra duties or " impositions " on other merchandise.

The Spanish Policy

James was anxious to bring about a marriage between his son, Prince Charles, and a Spanish Princess, and summoned Parliament to grant money for this purpose The English people looked with grave disfavour and mistrust upon the proposed alliance between England and her old enemy Spain, which was still the champion of Catholicism in Europe. So Parliament petitioned that Charles should marry a Protestant. James told them not to " meddle in the mysteries of state ", and said that

the privileges of Parliament were derived from the king alone. Parliament replied to this by recording in its journals the famous protest, "The Liberties of the Parliament are a birthright of the English people, not a gift of the Crown". James answered this by tearing out the leaf on which the protest was written, and by dismissing the Parliament forthwith.

James's beautiful daughter, Elizabeth, had married Frederick, the Elector Palatine of Germany, a staunch Protestant A hundred years later this union gave England the kings of the House of Hanover When war broke out in 1618 between the Catholics and the Protestants in Germany, all good English Protestants looked to James to send help to his son-in-law, to support the cause of their brother Protestants. James tried to avoid this by securing the friendship of Spain, through whose influence he hoped the Palatinate would be restored to Frederick

You have read how Raleigh was executed because he gave offence to Spain when he opposed the Spaniards on his last expedition in search of gold. James readily agreed to shed the blood of this great Elizabethan, in order to atone for the affront he had given to Spain

Now he was agitating for the Spanish marriage, and holding back the help that the German Protestants were sorely in need of, in order to maintain that friendship with Spain which was so distasteful to all Englishmen At last, Buckingham urged that he should accompany Prince Charles to Spain,

where the young Prince could pay his addresses to the Spanish Princess in person. The real object of Spain in considering this marriage was now laid bare. It was demanded that the children of the marriage should be brought up in the Roman Catholic faith, that the Princess should be provided with a Spanish household, and that complete toleration should be given to English Catholics.

Success after success met the Catholic forces in Germany, and when the conquest of the Palatinate was completed, the Elector had to seek refuge in Holland. Buckingham begged Spain to help to restore Frederick's kingdom in Germany. But the King of Spain made it clear that he could not fight against Catholics. This made Buckingham realize that Spain had been deceiving him with false hopes, and he at once broke off the arrangements for the marriage When Prince Charles returned to England without his Spanish Princess, the national joy knew no bounds. Bonfires were lighted, and feasts and merrymaking were the order of the day

Active preparations, backed wholeheartedly by the English nation, were now begun to send help to the Elector Frederick. Parliament willingly voted a sum of money for this purpose. A force of twelve thousand men, very badly equipped, and untrained, was sent to the Netherlands, but the expedition was entirely unsuccessful, and most of the soldiers perished from cold and exposure

Then in 1625 James died, leaving the throne to his twenty-five year old son, Charles I Discontent was

general in England, because of the late king's disregard of the privileges of Parliament, in Scotland, because he had tried to restore Episcopal rule in the Church, and in Ireland, on account of his banishment of the Earls of North Ireland, whose lands he had given to English and Scottish settlers. It was not likely that Charles would have a peaceful reign, but things turned out even worse than most Englishmen imagined.

Charles I and Parliament

In appearance, Charles had all that his father had lacked. He was handsome, dignified, and king-like. Moreover, he was studious, very artistic, and a most affectionate husband and father. But his ideas of divine right were, unfortunately, the same as his father's, and he was soon in trouble with his Parliament over the vexed question of finance

Buckingham continued to rule England in everything but name; and his influence with the new king was even greater than it had been with James I. Charles married the French Princess, Henrietta Maria, who was a Roman Catholic, and, on her behalf, Buckingham secretly promised toleration to Catholics and help for them in France. The crushing defeat of the forces sent to help the Protestants in Germany, and shortly afterwards, the failure of the expedition sent to Cadiz under Buckingham himself, added to the great unpopularity of the king's chief counsellor Parliament refused to consider the question of supplies until Buckingham was dismissed. " He is an enemy of Church and

Charles I

State," they declared, and formally impeached the hated favourite. Charles hastily dissolved Parliament to save Buckingham's head

Then illegal methods of taxation were again brought into play to provide the king with money Forced loans were demanded, and those who refused them were punished with imprisonment Tonnage and Poundage, which had been granted only for one year in 1625 by Charles's first Parliament, was collected as usual, and soldiers were billeted freely on private citizens, who were ordered to feed them.

Buckingham, in a last attempt to win honour for himself and Charles, had undertaken another expedition on behalf of the French Huguenots. Probably this was the most badly organized expedition ever sent abroad. Moreover, supplies failed and disease overcame the men, so that once again utter failure was the result, and great was the anger in England at this added disgrace.

The Petition of Right

When the third Parliament met in 1628, Buckingham was blamed for all the troubles at home and abroad, and the members would vote no money until "grievances had been redressed"

So the Petition of Right, the second Great Charter of English liberties, was drawn up. This petition declared that it was illegal.

1. To levy benevolences, forced loans, or taxes, without the consent of Parliament.

2 To imprison any Englishman except on a definite charge.

3. To billet soldiers on private householders, without payment.

4. To proclaim martial law in time of peace.

Mainly in order to save Buckingham, Charles promised all these things. Money was at once voted to the king by Parliament But when Charles claimed tonnage and poundage as his rightful due, and continued to levy these taxes without Parliament's consent, the quarrel broke out again immediately Charles dissolved Parliament in anger, and made up his mind never to summon another Furthermore, he seized some of the leading members of Parliament. One of them, Sir John Eliot, was imprisoned in the Tower, where he died of consumption three years later. Eliot's famous words, " None have gone about to break Parliaments, but in the end Parliaments have broken them ", proved prophetic when Charles was condemned to death by Parliament some twenty years later.

Eleven Years' Tyranny

Buckingham was murdered at Portsmouth, just as he was ready to set out on a fresh expedition abroad. His murderer was acclaimed a national hero, and the whole country rejoiced to be rid of Buckingham

A new favourite appeared soon after Buckingham's death. This was Sir Thomas Wentworth, and no king ever had a better servant than he, and no

servant a more ungrateful master than Charles proved to be. Wentworth had been one of the strongest opponents of the king in his early Parliaments, and his sudden change of side has been attributed sometimes to ambition, and sometimes to his dislike of the stern rule of the Puritans who composed such a large part of all the Parliaments at this time. When Wentworth deserted the cause of the people, Pym, one of the opposition leaders, said bitterly, "You have left us, but we will never leave you while your head is on your shoulders".

Wentworth became the foremost champion of absolute rule, and the king, with his help and that of Archbishop Laud, ruled England for eleven years without summoning Parliament to meet. Neither Laud nor Wentworth would tolerate any opposition to their will, and they crushed all those who tried to resist them. They adopted the motto "Thorough", and their combined object was to make Charles supreme in Church and State.

Laud was a strict but narrow-minded churchman of the High Church Party. He believed in most of the doctrines, forms, and ceremonies of the Roman Church, but refused to acknowledge the Papal authority. The Puritans bitterly opposed his attempts to impose on them his Prayer Book and High Church services In consequence, many conscientious Puritans left England to seek freedom of worship abroad, for they said Laud was trying to bring England once more under the yoke of Rome.

An "old clothes man" of the seventeenth century

Wentworth, Earl of Strafford, was made President of the North, and speedily revived the Council of the North, which had been set up by Henry VIII after the rising known as the Pilgrimage of Grace It was conducted on similar lines to the Court of Star Chamber, and by its aid Wentworth collected the old feudal dues, which had not been paid for some time, although they were perfectly legal charges The landowners and nobles of the North soon learned that to attempt to defy Black Tom Wentworth, or evade the payments he demanded of them, meant heavy fines, and even imprisonment if they persisted in their refusal to pay.

After restoring perfect order in the north of England, Wentworth was sent as Deputy to Ireland, where there were constant and bitter quarrels between Protestants and Catholics. His rule in Ireland was as "thorough" as it had been in the north of England, and order was

soon restored. He planted the flax-plant in the north of Ireland, and this was the beginning of the linen trade of Ulster, which has since brought such prosperity to that province. An Irish army was trained, and Wentworth held this in

A Bellman who acted as night-watchman in the seventeenth century
He went round calling out the hour and the state of the weather

readiness for emergencies either in Ireland or England.

Although Wentworth had provided his master with large sums of money from extortions made by the Council of the North, and from heavy fines extracted from rebels in Ireland, yet Charles was

always in need of money. Benevolences, impositions, granting of monopolies to the highest bidder, collecting tonnage and poundage, and selling knighthoods to all who had a yearly income of more than £40, were some of the illegal means which Charles used to provide himself with money Nearly everyone in the country was discontented, and when Charles attempted to collect from inland towns Ship Money—a tax hitherto levied only on ports in order to provide money for coast defence—John Hampden, a wealthy Buckinghamshire squire, refused to pay. He was tried, and judgment was given for the king by seven votes to five. But public opinion was in favour of Hampden, and Charles became more unpopular than ever.

Matters were brought to a head when Archbishop Laud attempted to reform the Scottish Church, and to force on the Scots a Prayer Book similar to the English one. The Scots rose in arms, and men of all ranks signed the National Covenant, swearing to resist to the death these proposals of Laud. An army was collected—much superior to any Charles could muster—and in the "Bishops'" War of 1639 the Scots were entirely victorious. The need for money to pay his troops and maintain an army against the Scots compelled Charles to summon Parliament in 1640. He had carried on without one for eleven years, and the temper of the one which met him after this long period of absolute rule can be seen from the stern measures it adopted

It was first resolved that Parliament hence-

forward must be called every three years, and could not be dissolved without its own consent. Then it proceeded to impeach Laud and Strafford. The king had given a solemn promise to Wentworth that not a hair of his head should suffer harm. In 1641, when he was pressed by the yelling mob outside his palace at Whitchall to sign his favourite's death warrant, he betrayed his word, and Strafford met his fate on the scaffold bravely. His last words were, "Put not your trust in Princes". Laud was also beheaded four years later.

A Pikeman of the Army of Charles I

The Court of Star Chamber and all similar Courts were abolished.

In 1641 a fearful rebellion broke out in Ireland, when the Protestants of Ulster were most brutally massacred by the Roman Catholics, whose lands had been seized during Strafford's rule as Deputy The English Puritans were greatly angered and highly indignant at the outrage, and, believing the rebellion had been secretly encouraged by the king, they drew up the Grand Remonstrance, blaming Charles for his misgovernment

The Puritan members of the House did all they could to get rid of Bishops in the Church Many, however, were opposed to this and would willingly have made peace with Charles Unfortunately, the

king was guided by the foolish counsels of his wife, and he rashly determined to march with an armed force to arrest, on a charge of treason, the five members of Parliament most hostile to him On his arrival, he found that the "birds had flown" By this unconstitutional act, Charles lost the support of many who wished to forget their grievances against him and to give him a chance to start afresh

War was now inevitable, and for seven years civil war raged over England.

HEADINGS AND HINTS FOR NOTES

JAMES I.

Stewart Line — Religion — Character — Appearance — Learning—Favourites—Robert Carr—George Villiers

Authorized Version of the Bible Dissension—Catholics—Puritans—Images—Right to Worship—Prayer Book —Petition — Hampton Court Conference — Forty-seven Men—Result

Pilgrim Fathers Freedom of Worship—Puritan Clergy—*Mayflower*—Virginia—New England—Hardships—Plymouth—United States

The Gunpowder Plot Catholics—Fines—Divine Service —Plot — Robert Catesby — Guy Fawkes — Gunpowder—Cellar—Lord Tresham—James—Search —Plotters Executed—Laws—Houses of Parliament of to-day—Divine Right of Kings—God's chosen Representative—Parliament and King

King and Parliament Power of Parliament—Dismissed—Methods of Taxation—Impositions.

Spanish Policy Proposed Alliance—Famous Protest—Hanover—War in Germany—Friendship with Spain—Buckingham's Visit—Result—Help for Frederick—Death of James I

CHARLES I AND PARLIAMENT

Appearance and Character of Charles I—Divine Right—Buckingham—Impeached—Illegal Taxation—Failure of Expedition

Petition of Right Clauses—Parliament Dismissed—Sir John Eliot

Eleven Years' Tyranny Buckingham's Death—Wentworth—Pym—Archbishop Laud—"Thorough"—Conscientious Puritans—Council of the North—Strafford's Irish Rule—Rule in England—Ship Money—National Covenant—Bishops' War—Parliament—Wentworth's death—Rebellion in Ireland—Five Members of Parliament—Result

EXERCISES

1 Write a few lines on the appearance, character, and religion of James I

2 What were the chief religious parties at this time? Write a brief account of each

3 Say what you know about the Authorized Version of the Bible.

4 Write all you can about the Pilgrim Fathers

5 (*a*) What was the cause of the Gunpowder Plot? (*b*) Name some of the leaders (*c*) What was the result?

6 Give the clauses of the Petition of Right

7 What do you know of the following Robert Carr, George Villiers, Lord Strafford, Archbishop Laud?

8 What do you understand by. (*a*) "Divine Right of Kings"? (*b*) "Tonnage and Poundage"? (*c*) "Ship Money"?

9. Name one event connected with each of the following dates 1603, 1605, 1611, 1620, 1628

10 What do you know about the National Covenant and the " Bishops' War "?

11 Write a short account of the event which finally led to the Civil War.

MAPS AND PLANS

On a blank map of the world mark the route taken by the Pilgrim Fathers

EXTRACT

THE PETITION OF RIGHT (CHARLES I, 1628)

" They (Parliament) do therefore humbly pray your Most Excellent Majesty, that no man hereafter be compelled to make or yield any gift, loan, benevolence, tax or such like charge, without common consent by Act of Parliament, and that none be called to make answer, or take such oath, or to give attendance, or be confined or otherwise molested or disquieted concerning the same, or for refusal thereof, and that no freeman, in any such manner as is before-mentioned, be imprisoned or detained, and that your Majesty will be pleased to remove the said soldiers and mariners, and that your people may not be so burdened in time to come, and that the foresaid commissions for proceeding by martial law, may be revoked and annulled, and that hereafter no commissions of like nature may issue forth to any person or persons whatsoever, to be executed as aforesaid, lest by colour of them, any of your Majesty's subjects be destroyed or put to death, contrary to the laws and franchise of the land

" All which they most humbly pray of your Most Excellent Majesty, as their rights and liberties according to the laws and statutes of this realm And that your Majesty would

also be graciously pleased, for the further comfort and safety of your people, to declare your royal will and pleasure, that in the things aforesaid, all your officers and ministers shall serve you, according to the laws and statutes of this realm, as they tender the honour of your Majesty, and the prosperity of this Kingdom"

EXERCISES ON EXTRACT

1 Give a list of the grievances Parliament sought to remedy when they drew up the Petition of Right

2 What disaster eventually befell Charles I, owing to his continual disregard of the liberties and rights of the English Parliament?

BOOKS FOR REFERENCE AND ADDITIONAL READING

J S Fletcher *Anthony Everton.*
Edna Lyall *In Spite of All*
M Johnston. *The Witch*
W. H Ainsworth· *Guy Fawkes.*
Sir Walter Scott *Fortunes of Nigel*
W H Ainsworth *The Star Chamber.*
A Dumas *The Three Musketeers*
J Wassermann. *The Triumph of Youth.*

EIGHTH PERIOD

THE CIVIL WAR AND THE COMMONWEALTH

The Great Civil War, 1642-1649

Charles I raised his standard at Nottingham in 1642. His followers were most of the nobility and their dependents, the High Church Party, country squires, and a large section of the lower classes The Parliamentarians were supported generally by the trading and middle classes, who were nearly all Puritans. However, help came for both sides from all sections of the community, and often members of the same family found themselves fighting in opposite camps. The strength of the Royalists lay mostly in the north and the west of England, and the stronghold of the Parliamentarians was in the east and the south—Devon and Cornwall being divided in opinion

London was strongly Parliamentarian, and every seaport and the whole of the navy were in their hands. This meant that the king's enemies collected the customs duties. In addition, the merchants and traders supplied plenty of money but few men skilled in arms. On the other hand, most of the trained and organized military forces flocked to the

Map of England and part of Scotland as divided between the King and Parliament at the end of 1643

king's standard, while the gentry and nobility were good horsemen, and had been accustomed to use the sword and pistol from their youth

Thus at the outset, Charles's forces were certainly superior to those of his opponents. The Royalists were commonly called Cavaliers, which means horsemen, while the Parliamentarians were nick-named Roundheads, on account of their close-cropped hair, which contrasted strongly with the long flowing locks of the king's followers.

The infantry of both sides carried long heavy muskets which were awkward to load, or pikes, which were spears with flat pointed, two-edged heads. A few field guns were used early in the war, but later the Parliamentarians had heavy siege guns, which played a great part in their victories The war was conducted with the most marked humanity, bravery, and chivalry by both sides, and, except where the actual fighting took place, civil life went on as usual At the outset, no one wished to make the king do more than acknowledge the power of Parliament It was due to his own perfidy and insincerity that he came to lose his head.

In the first part of the war, the advantage lay with the king, whose nephew, Prince Rupert of the Palatinate, was such a brilliant and dashing horseman that his attacks rarely failed. In 1643 Charles arranged for a march on London by three Royalist forces coming from three different directions—Oxford, Yorkshire, and Devonshire. The citizens of London were on the point of surrender, when the Scots offered to send twenty thousand men to

help the Roundheads, on condition that they would undertake to establish the Presbyterian Church system in England, and maintain it in Scotland This treaty, called the Solemn League and Covenant, was accepted by Parliament and the army in 1643, and Episcopacy was abolished

Oliver Cromwell

Oliver Cromwell, a forty-three year old squire of Huntingdonshire, now came forward as a leader of the Roundheads. He was the first to realize the causes which led to the Royalist successes, and he set himself to train a body of horse soldiers and infantry He chose religious men who fervently believed in his cause; he gave them good horses, and provided them with protective armour. They were drilled with the utmost care, and were so strictly disciplined that they were never known to disobey a command of their leader. From the fact that they were such bold and successful fighters, they became known as Ironsides. At Marston Moor in 1644, a great battle was fought Cromwell and his Ironsides made such clever attacks that the first decisive victory of the war was won by the Parliamentarians, and the north of England was transferred from the King to Parliament Cromwell was now acknowledged to be the finest cavalry leader of his day.
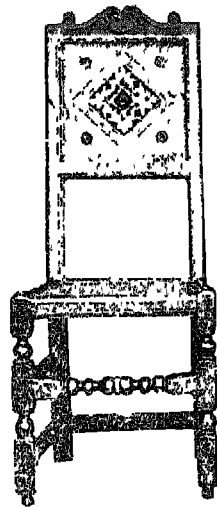
A chair made in the time of Charles I
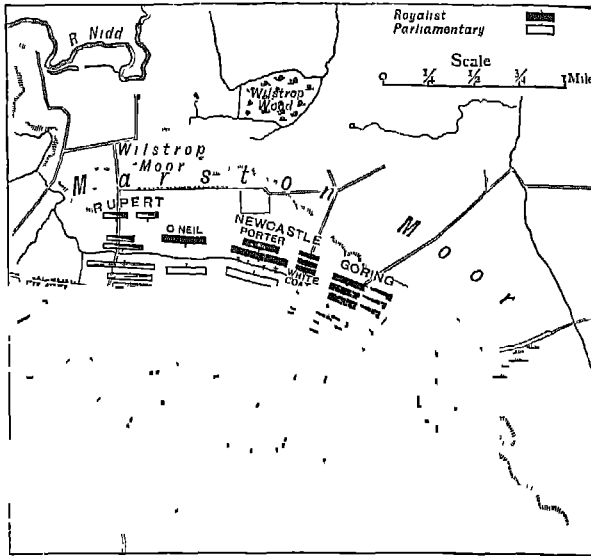
A Plan of the Battle of Marston Moor

He next set himself to reorganize the Roundhead army He found new commanders who were fired with the righteousness of their cause and believed that, in fighting against the king's forces, they were fighting against the enemies of God. Regiments were formed under able, well-paid officers. All the men were strictly trained, and, after serving a set time, were free to return to their homes and resume their regular occupations. This New Model Army, as it was called, won its first great victory against the Royalists at Naseby, in Northamptonshire, in 1645. This battle practically ended the war, and the Cavaliers had to flee for their lives. Papers were found in a carriage which the king was
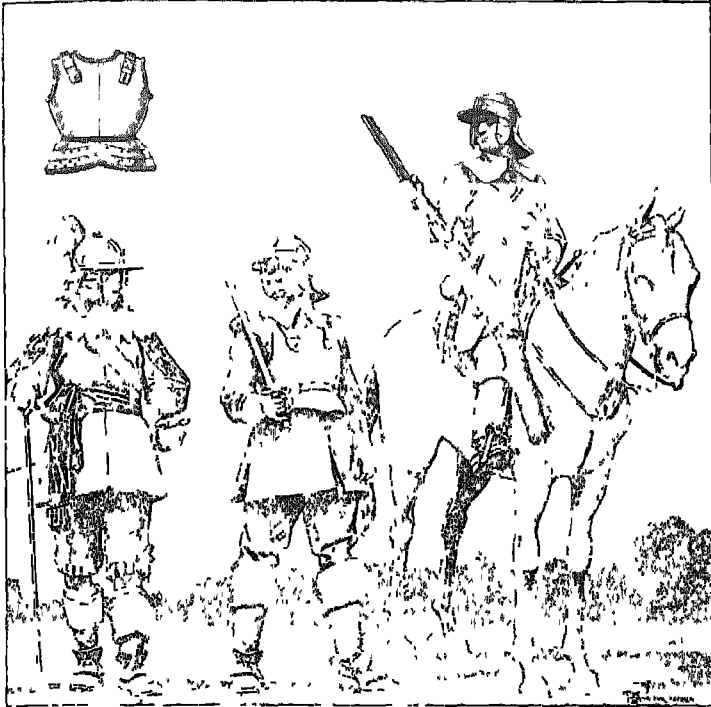
Soldiers of the Civil War
Cuirassier, dismounted trooper, and dragoon

obliged to abandon in his flight, which showed that he was trying to arrange with two or three parties for help, and this proved again how untrustworthy was his word.

In Scotland, a brave Scotsman, the Earl of Montrose, had raised an army of Highlanders in the king's cause, and, at first, met with much success. When he attempted to subdue the Lowlands, many of his Highland supporters, who were dissatisfied

with their share of the plunder, deserted him Then a large English force, released after Naseby, marched northwards and defeated him. He escaped to the Continent, and in 1650, after the death of Charles I, returned with soldiers from Germany and France He was taken prisoner by the Scottish Covenanters and suffered a very cruel fate. He was first tied to a cart and dragged in disgrace to prison, then he was hanged, with the book in which his life was written fastened round his neck. His body was cut up and the parts stuck up in various parts of Scotland to warn future Royalist rebels.

Charles I made great efforts to raise another army in England, but failing, he gave himself up to the Scots, thinking his own people would treat him more leniently than the English Charles still refused to acknowledge Presbyterianism; and the Scots, to whom great sums of money were owing for military service, agreed to surrender their prisoner to the English Parliament, on condition that the debt of £400,000 owing to them was paid. So in 1647 Charles became the prisoner of his own Parliament. He was taken to Holmby House in Northamptonshire, and treated with the honour and courtesy due to his kingship. Charles now hoped that advantage would come to him from the quarrels of his opponents, for serious differences had arisen between the Parliament and the New Model Army.

Most of the members of Parliament were Presbyterians, and wished, with the Scots, to force their beliefs on all Englishmen. Cromwell and the army were more tolerant and believed in allowing every

man to worship in his own way, except the Roman Catholics, to whom no concessions were made. For this reason they gained the name of Independents.

Parliament now offered to support Charles if he would set up a Presbyterian form of Church government. This caused Cromwell to decide to take things entirely out of their hands The king's person was seized, and had Charles been wise he would have accepted the terms of peace offered him by the Independents They merely wanted religious toleration for all except Roman Catholics. However, the king negotiated first with one, then with another; so Cromwell and the army decided that the time for half measures was past. Eventually, after imprisonment in various castles, they began to agitate for the punishment of " Charles Stewart, that man of blood ". A series of fresh rebellions broke out on the imprisoned king's behalf, and these started the second Civil War in 1648, which was fatal to him Both the Scots and the Presbyterians fought for Charles, the former being completely beaten by Cromwell at Preston.

This new evidence of Charles's continued intrigues to regain his throne determined the army to bring him to justice

Colonel Pride, one of the leaders of the Independents, with a strong body of soldiers, stationed himself outside the door of the Houses of Parliament. He refused admission to all who favoured the king's cause; the remaining members became known as the Rump, and were entirely under the control of

the army. A court was set up for the trial of the king—this being the first time in history that an English king had been brought to answer for his crimes before judges The king was charged with being a traitor, and with waging war against the people of England Charles appeared in Westminster Hall on 20th January, 1649, on trial for his life before his bitterest enemies. The king refused to answer the charges against him, saying that no court had any power to try him.

The verdict was determined before the trial began. Charles was pronounced guilty, and condemned to death as a traitor. Bravely and calmly he met his fate. While he was dressing on the morning of his execution, he said, " Death is not terrible to me, I bless God I am prepared ". After a short address to his people, with great fortitude Charles laid his head on the block, and, as it fell from his body, a groan of horror fell from the spectators. Never had Charles been nobler than in facing death.

> " He nothing common did or mean
> Upon that memorable scene "

Thus the second Stewart king died in 1649, a martyr to the Established Church, and to his beliefs in the Divine Right of Kings.

The Commonwealth—1649–1660

After the death of the king, the first acts of the Rump Parliament were to abolish the House of Lords, which they said was useless and dangerous,

and the monarchy Then a Council of State was appointed, consisting of forty-one selected men, who were to be the real ruling body.

England now became a Republic, or Commonwealth, and was without a king for eleven years The real master of the State was the Army, and England was ruled by the worst of Tyrannies, the sword.

In Ireland, Prince Charles, the son of Charles I, was proclaimed king, and the Royalists joined the Catholics in a serious rising against the Parliament Oliver Cromwell, as Lord Lieutenant of Ireland, was sent to lead the army against the rebels. Hitherto, he had always been merciful to his foes, now he showed ruthless cruelty, and treated the Irish with the greatest harshness. He stormed the town of Drogheda, and, because it had held out for some time against him, he slaughtered in cold blood three thousand of the inhabitants when they eventually surrendered to him Further, he dispatched numbers of prisoners as slaves to the West Indies. Rebellion after rebellion was stamped out with terrible severity under Cromwell's direction, and when the country had been brought to complete subjection, General Ireton, the son-in-law of Cromwell, was left to maintain order in Ireland. For many years after, Cromwell's name was regarded with the most bitter hatred by the Irish.

Trouble now arose in Scotland, where Prince Charles had landed He had been proclaimed king on his promise to rule as a Presbyterian. Fairfax, the Lord General of the English army, held that

the English had no right to meddle in Scottish affairs, and resigned his position Cromwell took his place, and argued with the Army that, as Charles was the heir to the English throne, it was a hostile act on the part of the Scots to restore him. He defeated the Scots at Dunbar in 1650, but Charles gathered a large army and marched southward into England. Cromwell followed him, and they met at Worcester, where he gained another great victory, which he always described as his " crowning mercy "

Charles made his escape with great difficulty, and his romantic adventures until he got safely out of England formed the plot of many a thrilling story It is said that he was forced to take refuge in the home of a poor woodcutter at Boscobel. One night he was obliged to shelter in the branches of a leafy oak tree in a wood near by, while the English soldiers were searching for him. His enemies actually stood under the tree where he was hiding, and shook the branches with their muskets when they passed on

Soon after, Charles set out once more for the coast—this time acting as groom to a Royalist lady. When they halted on the way for the horse to be re-shod, they asked for news and were told by the blacksmith that the Scots had been beaten, but, said he, " that rogue, Charles Stewart, has escaped again " Eventually the young fugitive reached France, and did not return to England until the Restoration.

Scottish affairs were managed excellently well by
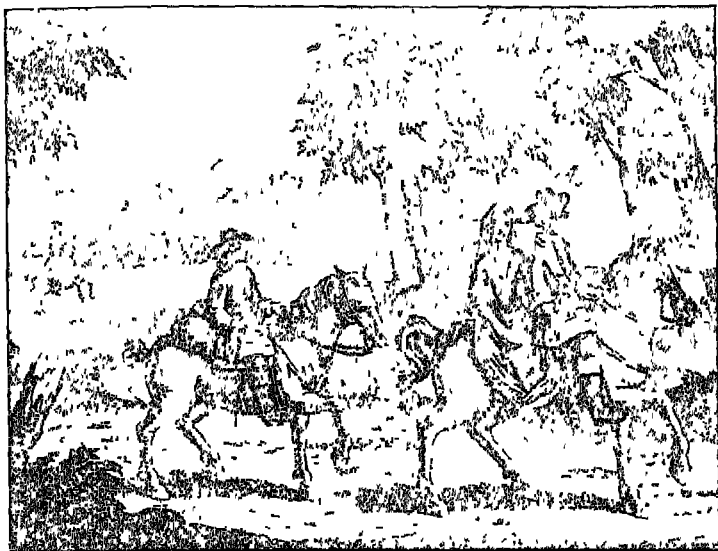
Prince Charles, disguised as a groom, riding in front of a Royalist lady

an able army officer, General Monk, who succeeded in restoring such order in Scotland that it was said at the time, " a man may ride over all Scotland, with a switch in one hand and £100 in the other, which he could not have done during these five hundred years "

Robert Blake, the Soldier Admiral

England, having subdued her rebels at home, now had to turn her attention to an outside foe. The Dutch at this time were trying to monopolize the trade of the Spice Islands, and endeavouring to keep Englishmen from the seas In fact, they had massacred a number of English traders who had

attempted to carry on their trade in the East Indies Moreover, they had a large shipping trade and a fine fleet of merchant ships with which they were endeavouring to capture the sea-transport trade of the world So many of their ships were engaged in carrying merchandise for other countries that they became known as the " wagoners of the seas ".

The English Parliament passed the Navigation Act in 1651 to encourage British trade. This provided that all goods coming into England must be carried in English ships or in the ships of the country from which the goods came As Holland produced few goods, but extensively carried those of other nations, this Act was a great blow to her shipping trade, and inflicted serious loss upon her.

Thus war broke out.

Robert Blake had fought in the Civil War, and commanded troops for the Parliamentary armies with much distinction At the siege of Taunton he gallantly held out for more than a year, and, as a reward for his bravery, he was made a " General of the Seas ", and was given command of the fleets of the Commonwealth in 1649 at the age of fifty.

His first engagement was with Prince Rupert, whom he chased to Portugal and drove from thence into the Mediterranean, where he destroyed many of his ships. Thus he gained his first lessons in seamanship, and soon his exploits made the name of the Commonwealth respected and feared by all the nations of Europe.

Since the days of Elizabeth our naval supremacy had never been challenged, till Van Tromp, the

An English Warship laid down in 1636

great Dutch admiral, seriously threatened it The Dutch were successful at the beginning of the war, and in 1652, after surprising Admiral Blake in the Channel, Van Tromp claimed a victory and sailed the Channel with a broom at his masthead This was a symbol that he meant to sweep the English from the seas. Blake avenged this defeat in the following year, and he tied a whip to his masthead, as a token that he had given the Dutch a sound beating. There were several more encounters between the two navies, but Blake was now more than a match for the Dutch, and when peace was made, Holland paid a large sum to the English Parliament, and agreed to the Navigation Act.

Blake had now proved himself an admiral of great ability, and had ranged himself with the other great sea-commanders who have brought lustre to the name of England

In 1655 Blake was dispatched with his fleet to the Mediterranean to punish the Bey of Tunis, who had allowed and encouraged his Moorish pirates to plunder English trading ships and capture English seamen He completely wiped out the Moorish fleet in Tunis harbour, bombarded the land forts, and shattered them to pieces.

When England and Spain went to war, Blake and his fleet accomplished the brilliant feat of destroying the entire Spanish Treasure Squadron in Santa Cruz harbour—thus delivering a crushing blow to Spain. This was his last and crowning glory; for on his return to England four months later, he was

stricken with a mortal illness, dying on board his ship just as it entered Plymouth Sound. So was added another great and unsullied name to England's Roll of Honour.

Cromwell as Protector

The Rump Parliament mismanaged affairs in England for four years, when Cromwell decided to get rid of it. With troops standing by at Westminster, he entered the House, and, after listening for a time, stamped his foot as a sign for his soldiers to enter "You are no Parliament," he shouted to the members in anger. "Get you gone." Then, pointing to the mace, which is the symbol of authority in the House of Commons, he ordered a soldier to "take away that bauble". His troops having cleared the House, Cromwell locked the door and marched away with the key in his pocket.

A few religious men were selected by Cromwell to form a curious assembly known as "Barebones' Parliament"—so named because one of its members was nicknamed by the Cavaliers "Praise-God-Barebones". This small Parliament was quite unable to deal adequately with the problems which arose, so they dismissed themselves. A council of officers next produced the "Instrument of Government," by which Cromwell was made "Lord Protector of the Commonwealth of England, Scotland, and Ireland" A council of state, with Cromwell as its head, was appointed to see that the laws made by Parliament were properly carried

out A succession of Parliaments met, but none proved capable of governing, and time after time Cromwell impatiently dismissed them

Finally, Cromwell introduced his "poor little invention", as he called it himself, whereby England was divided into ten districts, each under a Major-General with his army to support him. Now the Protector's rule was absolute—with his army in control all over the land to enforce his wishes. This was called the rule of the Puritan Saints, and was extremely unpopular with the English people England could no longer be called "Merrie" under the gloomy rule of these Puritan officers. All public amusements were forbidden—no longer might people enjoy the pleasures of the theatres, which were all closed, or watch bear- and bull-baiting. Even dancing was prohibited, and Feast Days were abolished, so that they might not even celebrate Christmas in their old way

The following extract for Christmas Day, 1657, appeared in a contemporary diary "I went to London with my wife to celebrate Christmas Day. Sermon ended as Mr. Gunning was giving us the Holy Sacrament, the Chapel was surrounded by soldiers, and all the communicants and assembly surprised and kept prisoners by them—some in the house, some carried away. In the afternoon came Colonel Whalley and others from Whitehall to examine us one by one, some were committed to the Marshall, some to prison"

The use of the English Prayer Book was forbidden, and members of the English Church could only
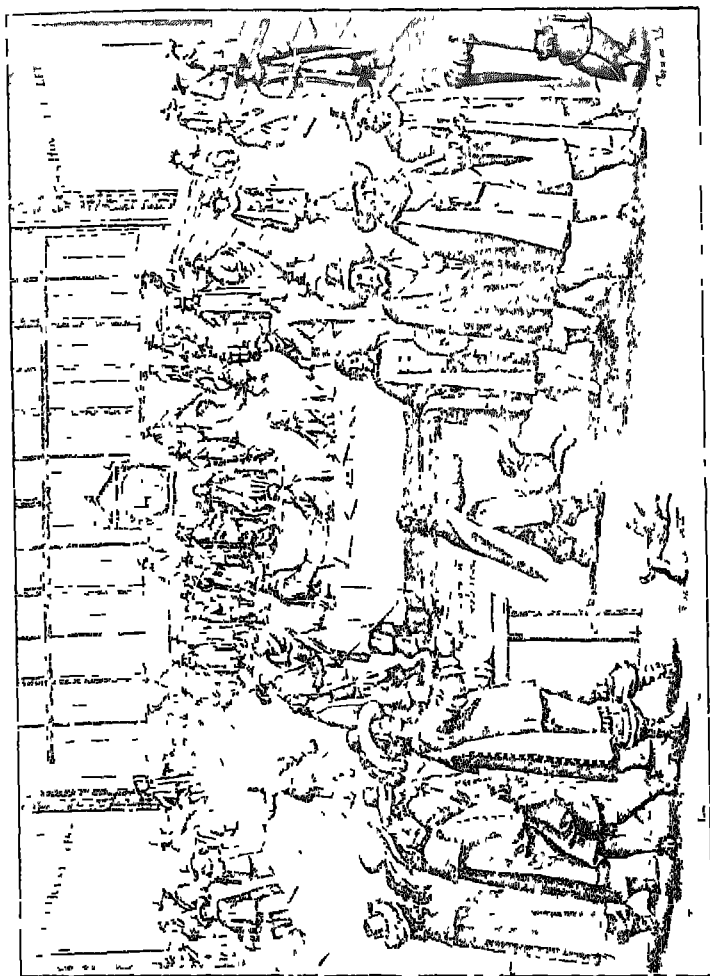
Cromwell expelling Parliament in 1653

The artist who drew this picture is poking fun at the Parliament

hold their services in secret, for the posts of their clergy were filled by Puritan pastors

Throughout England hostility to Puritan rule was growing.

Cromwell was offered the title of king by his second Parliament, but he dared not accept it, as the officers of his army hinted plainly their strong disapproval, saying they had fought against one king and would not have another. However, Cromwell continued to rule England and was king in all but name.

Cromwell died on 3rd September, 1658—the anniversary of his great victories at Dunbar and Worcester. Almost his last words were, "I would be willing to live to be further serviceable to God and His people, but my work is done Yet God be with His people." So death claimed the great strong spirit that had guided England with an honesty of purpose never surpassed

Cromwell's work endured long after he had breathed his last He had dealt a crushing blow to absolute monarchy, and never again do we find an English sovereign attempting to rule in the despotic manner of Charles I Further, Cromwell made the name of England respected everywhere on the Continent The fame of his matchless Model Army and his invincible fleet was a byword in Europe, and our prestige abroad had never been higher

HEADINGS AND HINTS FOR NOTES

The Great Civil War

Followers of Charles—Parliamentarians—Royalists, North and West—Parliamentarians, East and South—Cavaliers superior—Roundheads—Prince Rupert—Solemn League and Covenant

Oliver Cromwell

Roundhead Leader—Horse soldiers—religious men—Ironsides—1644—Reorganize army—New Model Army—Earl of Montrose—Charles as prisoner—Holmby House—Parliament and Army quarrels—Charles seized—second Civil War—Colonel Pride—Rump—Charles's trial—his execution

Commonwealth

House of Lords—Republic—Ireland—Cromwell's cruelty—General Ireton—Scotland—Fairfax—Dunbar—Worcester—Charles's escape—General Monk.

Robert Blake

Dutch aims—" Wagoners of the Sea "—Navigation Act—" General of the Seas "—Van Tromp—Dutch defeat—Result—The Bey of Tunis—Defeat of the Spanish Fleet—death

Cromwell as Protector.

Rump Parliament dismissed—Barebones' Parliament—Instrument of government—Puritan rule—amusements and pleasures—religion—Cromwell's death—results of his rule

EXERCISES

1 What do you understand by (*a*) The Cavaliers? (*b*) The Roundheads?

2 Why were the Royalists considered superior at the beginning of the Civil War?

3 Why were the Ironsides so successful?

4. Write a few lines about Oliver Cromwell

5 Describe how Cromwell dealt with the rebellions in Ireland

6 Relate two incidents during the escape of Charles Stewart

7 Give a short account of the life of Robert Blake

8 What was Cromwell's title? What other title was offered to him, and why did he refuse it?

9. Say what you can about the rule of the Puritans

10 Write one fact about each of the following Prince Rupert, Earl of Montrose, Colonel Pride, General Ireton, Van Tromp

11 What event is connected with each of the following dates 1642, 1644, 1645, 1648, 1649, 1651, 1658?

MAPS AND CHARTS

1 On a blank map of England mark the places connected with the Civil War

2 Draw a Time Chart showing the progress of the Civil War.

EXTRACT

THE INFLUENCE OF OLIVER CROMWELL

"To reduce three nations (England, Ireland, Scotland) which perfectly hated him, to an entire obedience to all his dictates, to awe and govern those nations by an army that was not devoted to him and wished his ruin, was an instance of a very prodigious address

"But his greatness at home, was but a shadow of the glory he had abroad It was hard to discover which feared him most, France, Spain, or the Low Countries, where his friendship was current at the value he put upon it As they did all sacrifice their honour and their interest to his pleasure, so there is nothing he could have demanded that any of them would have denied him

"He was not a man of blood—in the council of officers it was more than once proposed "that there might be a general massacre of all the royal party, as the only way to secure the government", but that Cromwell would never consent to it, it may be out of too much contempt of his enemies"—*Clarendon History of the Great Rebellion.* (The Earl of Clarendon was the chief minister of Charles II. See pp 204–208—Tenth Period)

EXERCISES ON EXTRACT

1. What do you learn from the above extract about Oliver Cromwell?
2. What do you know of his foreign policy?

BOOKS FOR REFERENCE AND ADDITIONAL READING

J G Edgar *Cavaliers and Roundheads*
H Strang & R Stead *One of Rupert's Horse.*
M Bowen *The Governor of England*
J. S Fletcher. *When Charles I was King*
Sir Arthur Quiller-Couch *The Splendid Spur*
G. A Henty. *Friends though Divided*
Captain Marryat· *Children of the New Forest*
F S Brereton: *In the King's Service*
W H G Kingston *The Boy who sailed with Blake*
W H Ainsworth *Boscobel*
C. J C Hyne *Prince Rupert the Buccaneer*
Samuel Pepys *Diary*

NINTH PERIOD

LIFE IN STEWART TIMES

Dress in the 17th Century

During the reign of James I, costumes of men and women continued much as they had been in Elizabeth's day. Ruffs, bolstered breeches, and huge farthingales were still worn

Court-dress, time of Charles I — Lady in winter dress, time of Charles I — Royalist in time of Commonwealth

Costumes of

When Charles I reigned, there were two distinct types of apparel The cavalier dressed richly in cloak of velvet, brightly coloured silken doublet, and narrow breeches trimmed at the knee with rosettes. Instead of the high, starched ruff, he wore a large falling collar of costly lace, or fine linen edged with lace. He had a loose fitting coat, with sleeves slashed to show a shirt of the finest cambric beneath, and, when out of doors, he placed over his long flowing curls a wide-brimmed hat of beaver, ornamented with ostrich feathers, and he wore high

Puritans — Court-dress, time of Charles II — Wealthy Merchant

enth century

wide-topped leather boots The lady of Charles I's time had discarded the farthingale, and wore, instead, a wide, full skirt of satin or velvet, which fell in graceful folds and was fastened back to show a prettily trimmed lace petticoat. The bodice was tight, and often beautifully hand-embroidered. It had a large collar and cuffs of exquisite lace. Long gauntlet gloves were favoured, and were always richly embroidered and highly perfumed.

The Puritans disapproved entirely of this costly and "showy finery", as they termed it, and adopted a sombre attire which contrasted strongly with the one just described For the most part they wore their hair closely cropped—the word Roundhead was applied to them on this account A plain coarse serge cloak and suit of sombre hue, with a small plain linen collar and a tall-crowned hat of dark coloured felt, was the dress worn by all Puritans of the seventeenth century. A Puritan lady was similarly attired in drab gown of heavy cloth, entirely plain, and relieved only by severe collar and cuffs of linen or cambric When on a journey, a large hood covered the head and a long cloak protected its owner from the cold.

With the return of Charles II, costumes of men and women became gayer and more costly than they had ever been before. This was probably due to the long period of restraint that had been endured while England was under Puritan rule Pepys, in his wonderfully-informative *Diary*, described some dresses worn at a Court ball after the Restoration: "A gown of black and white lace, and her head

and shoulders dressed with diamonds—and the king (Charles II) in his rich vest of some rich silk and silver trimming, as the Duke of York and all the dancers were, some cloth of silver, and others of other sorts, exceedingly rich " Wigs or perukes became common among men, especially Roundheads, who now wished to conceal the closely-cropped head, so typical of the late king's enemies Shoes were buckled for the first time, and " I now observe that women begin to paint themselves, formerly a most ignominious thing ", wrote John Evelyn in 1664.

Stewart Children

From the beautiful paintings of such famous men as Van Dyck, Lely, and Honthorst, we see that the Stewart children were dressed exactly like their parents.

The great love such men as Strafford, Buckingham, and Charles I bore their children shows the great affection which Stewart parents had for their offspring There is no sadder story than the parting scene between the doomed Charles I and his little son and daughter.

At a very early age, children were taught their alphabet from a horn-book, on which appeared the Lord's Prayer, with the letters of the alphabet above

Then it was common for Latin, French, and Greek, with
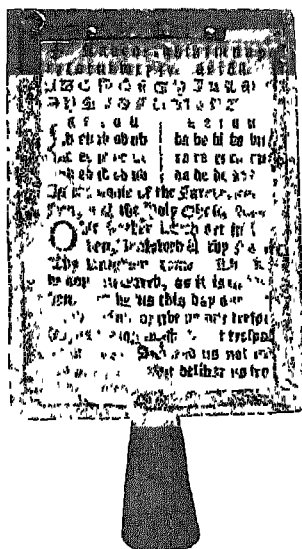
A Horn-book

severe religious instruction, to be taught even in the nursery. We are told that Richard Evelyn, son of the famous Diarist, "at two and a half years could read perfectly any of the English, French, Latin, or Gothic letters, pronouncing the first three languages exactly" It is not surprising that the child died at the age of five "of six fits of a quartan ague". When the nursery stage was over, a tutor was engaged in the wealthy homes, or the boys were sent to the local grammar school. There were no schools for girls at this period

At Eton, in 1645, we are told that the boys rose at "five of the clocke in the morning, and after a psalm sung and prayers heard, sweep the chamber as they were wont to do" On Sundays they were required to attend service twice, and then write a full account of the sermon. Latin and Greek were considered the most important subjects, and all sons of gentlemen were expected to speak and write these languages Any disobedience or misdemeanour was dealt with most severely—sound whippings, and flogging with the birch, were frequent and numerous. The daughters of the rich were instructed in the arts of cooking, preserving, distilling, fine sewing and embroidery, dancing, singing, and music

Scanty provision was made for the education of poor children Occasionally, the village or town possessed a free school, endowed by a rich merchant gild or a wealthy layman. Also, there were a few small schools where children were prepared in a very haphazard way for entry to the grammar schools Finally, the children of paupers had

charity schools, where they were taught a trade or craft, after learning to read and write.

The Newspaper

During the Civil War, when men were fighting so far from their homes and in so many different places, it became the custom for those who could afford it, to engage a man or news-writer to send them letters at regular intervals, giving news of battles, Court, &c.

Next appeared news-books, giving all the items of news which their writers could obtain. These were eagerly sought by the people in the villages, and were carried by pedlars and travelling tradesmen. Frequently, the information contained in these two-paged books was greatly exaggerated or entirely false—thus wild stories were spread by the news-writers who abounded at this time.

Advertisements now began to appear, the following being one inserted in a news-book of 1660: "We must call upon you again for a black dog, between a greyhound and a spaniel, no white about him, only a streak on his breast, and tail a little bobbed It is His Majesty's own dog and doubtless was stolen—for the dog was not born or bred in England and would never forsake his Master. Whoever finds him may acquaint any at Whitehall, for the dog was better known at Court than those that stole him Will they never leave robbing His Majesty?" (Charles II)

An earlier advertisement in 1655 advertised the new drink, coffee, " a simple Innocent thing, in-

comparable good for those that are troubled with melancholy "

The first newspaper appeared in 1665 It was called the *Oxford Gazette*, and consisted of a single sheet of paper, containing two columns of news on each side

During the reign of James II, the first daily newspaper appeared; and, in the early eighteenth century, newspapers appeared in many parts of the country. These were circulated freely everywhere, and all classes of the community began to take an interest, hitherto unknown, in national life and politics.

Travel

In the seventeenth century there was a great development in coach building, as wheeled conveyances were becoming increasingly popular for both long and short journeys. Coaches, wagons, and chaises were used instead of horseback

In 1649 Chamberlayne wrote. "There is of late such an admirable commodiousness to the principal towns of the country, that the like has not been known in the world, that is, by stage coaches, wherein anyone can be transported, sheltered from foul weather and foul ways, and this at the low price of about a shilling for every five miles."

These coaches were large, four-wheeled, covered vehicles, and carried people both inside and out. There was a large receptacle for luggage, and a guard's seat or dicky, as it was called, at the back, while the driver rode in front with his team of four
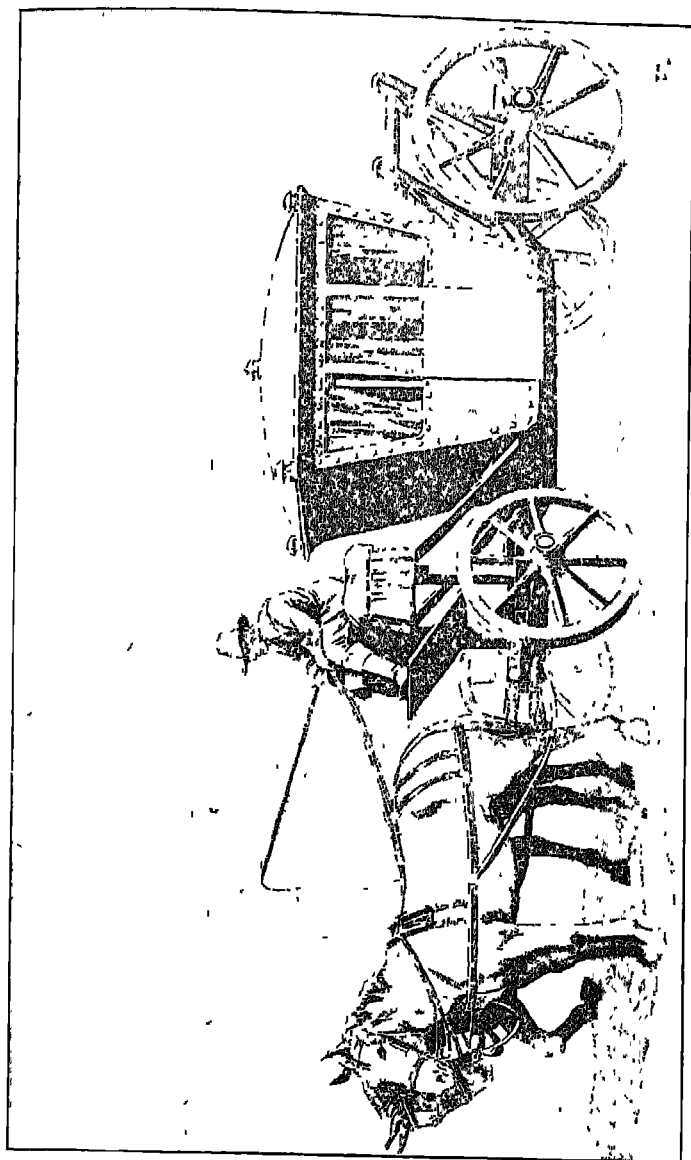
A Coach of the seventeenth century

or six horses There was always keen competition to obtain the seat beside the driver, for he had all the news of the villages through which he passed, and knew most of the villagers too; and he related many a funny story with many a joke, as his coach lumbered on. It was a very unpleasant experience to travel
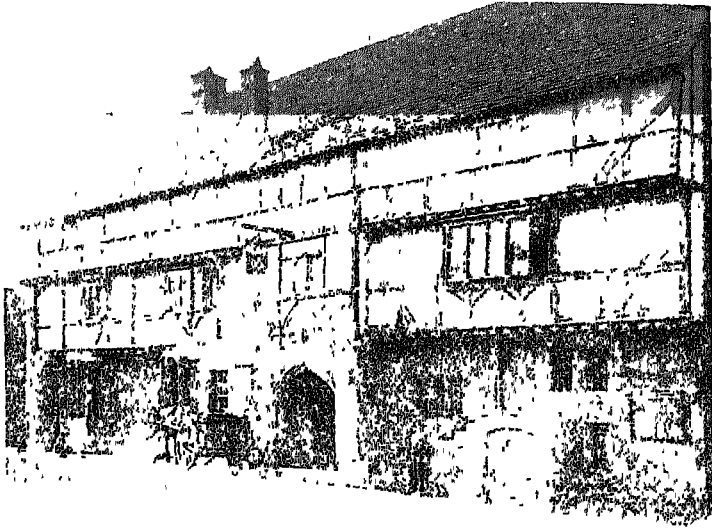
An Inn which has changed very little since the seventeenth century

inside, for the coaches were without springs and were jolted ceaselessly from side to side by the deep ruts in the bad roads. Thus the poor passengers generally alighted, covered with bruises.

As the name suggests, long journeys were taken by stages. Inns were chosen on the route, where fresh relays of horses were kept in readiness, passengers were put down and others picked up, and

a night's lodging obtained for those whose journey occupied more than a single day. Coaches only travelled by day, as the roads were unsafe for night travelling

The inns of the seventeenth century benefited greatly from the increasing number of coaches which plied between all the principal towns, and from a contemporary description it seems that their hospitality, fare, and accommodation were excellent for the times. "The world affords not such Inns as England hath, either for good and cheap entertainments at the guest's own pleasure, or for humble attendance on passengers. For as soon as a passenger comes to an Inn, the servants run to him, and one takes his horse and walks him till he be cold, then rubs him and gives him meat. Another servant gives the passenger his private chamber and kindles his fire; the third pulls off his boots and makes them clean; and when he sits at table, the Host and Hostess will accompany him, while he eats, he shall be offered music which he may freely take or refuse, and if he be solitary, the musicians will give him the good day with music in the morning"

Highwaymen, or mounted robbers, lay in wait for the coach on lonely moors and any thickly wooded stretches of country near which it had to pass. These road thieves became such a menace that great rewards were offered for their capture, and the punishment for their crime was the gibbet.

A post-chaise was usually engaged by the rich for long journeys, as it was quicker and more comfortable than the stage coach. It was a light, four-wheeled,
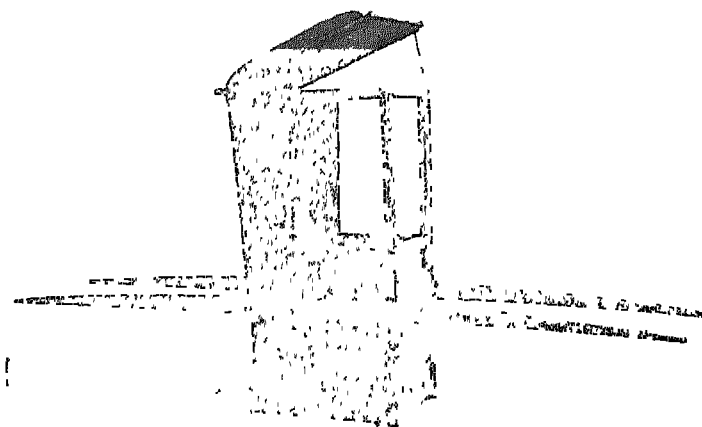
A Sedan Chair

closed vehicle, and was drawn by teams of horses which were renewed at stated inns, like those of the stage coach. Each pair of horses had a post-boy or "postilion" who rode astride the horse. "Flying coaches" appeared in 1677, and these travelled about forty-five miles a day. Thus the journey from London to Oxford could be accomplished in about twelve hours

For the poor there were low covered wagons, very draughty and uncomfortable, but cheap.

The great increase in heavy traffic made the roads, which were already wellnigh impassable at some seasons of the year, even worse. As the upkeep of all roads was undertaken by the parishes in which they lay, the cost of repairing the damage became a heavy burden. So it became necessary to devise some means of increasing the slender

sum available from the local rates. Thus toll gates and turnpikes were set up on all the main roads, towards the middle of the seventeenth century, to collect money for the improvement and upkeep of the roads, and for the construction of new ones where desirable. This led to a great improvement in the condition of the roads, as a regular sum became available for their maintenance Toll gates remained a familiar feature of main road travel until well into the nineteenth century, but there are now very few left in England.

Coaches for hire, called "hackney" coaches, were first used in London, and by 1662 there were 2400, as well as large numbers of private coaches. Pepys describes his coach as follows. "And so we went along through the town with our new liveries of serge, and the horses manes and tails tied with
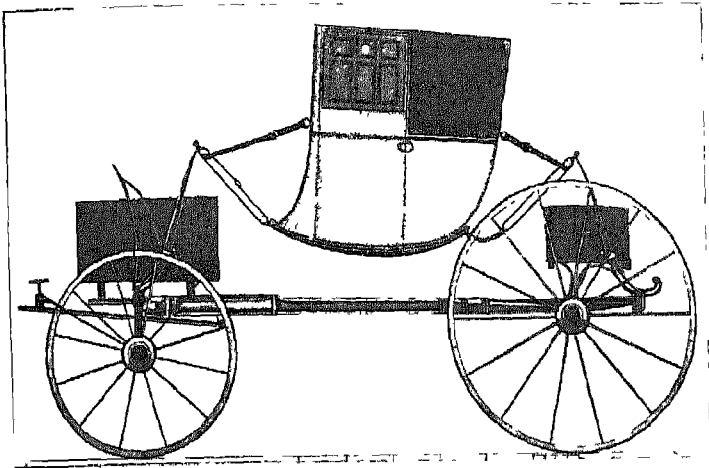
A Post-chaise

red ribbons, and the standards gilt with varnish, and all clean, and green reines, that people did look mightily upon us; and the truth is, I did not see any coach more pretty, though more gay, than ours, all the day." (1st May, 1669.)

Sedan chairs were introduced into England during the reign of James I; and in 1634, when a patent was granted for the right to hire them out in London, they became very popular, and were a very fashionable form of conveyance. They were like armchairs with a covering, and they had two poles which passed through rings in the sides of the vehicle. A bearer in front and one behind carried the occupant from place to place.

Literature

The Stewart period was rich in literature. Shakespeare did not die until 1616, and although some of his tragedies were written in the reign of James I, it is usual to include his works among Elizabethan literature, as it was in Elizabeth's day that he produced his best plays. Omitting Shakespeare, John Milton was the most outstanding literary man in the seventeenth century.

John Milton

Milton was born in London in 1608, and his boyhood was passed in an atmosphere of culture; for his father, though not wealthy, had ample means, and was a lover of literature and music. Milton was given a very good education. First he attended the famous St. Paul's School in London, and then, at

the age of seventeen, he became a student at Christ's College, Cambridge. It was his father's intention that John should become a clergyman, but his sympathies, like those of his father, were strongly Puritan; and as the Church at that time was ruled by the High Church party, Milton's conscience forbade him carrying out his father's wish. So he completed his degree, and then, at the age of twenty-four, retired to his father's country house at Horton, Buckinghamshire. Here were produced the delightful country idylls *L'Allegro* and *Il Penseroso*, and *Lycidas*, that tenderly affecting poem, written on the death of a close friend. After five years at Horton, Milton travelled abroad While in Italy, bad news from England caused him to abandon the rest of his tour and return hurriedly. He said it was " base to be travelling for amusement, while my fellow citizens were fighting for liberty ".

The Civil War broke out soon after, and for some years Milton devoted himself to politics. He wrote a famous pamphlet pleading " For civil and religious freedom, for freedom of social life, and freedom of the press " After the execution of Charles I, Milton wrote a pamphlet to justify his death, and as a reward he was made Latin Secretary of the committee for foreign affairs The poet continued to work for the Puritan cause, and published pamphlets from time to time, defending, explaining, and upholding the policy of Cromwell at home and abroad. His eyes now began to fail him, and he gradually became completely blind. He continued to work for the Government, however,

for some time, dictating his letters to a secretary.

When Charles II returned at the Restoration, Milton was obliged to live in strict retirement—for he was extremely unpopular on account of his association with the regicides. However, the Merrie Monarch was not vindictive, and Milton was allowed to live obscurely for the rest of his life in a little cottage on the outskirts of London Here he wrote his most famous poems, *Paradise Lost* and *Paradise Regained* The first poem tells of the temptation and fall of Adam and Eve, and the second of the temptation of Jesus by Satan. Throughout these poems breathes the mighty genius of Milton, and they are the greatest epics in our language. In 1674 Milton died. He has been described as " not only the highest, but the completest type of Puritanism ".

John Bunyan

As Milton was the greatest poet of this age, so John Bunyan was the greatest prose writer.

He was the son of a tinker of Elstow, and when he grew older he took up the work of his father and began to mend the pots and pans of the villagers. As a boy, he loved to join in the sports of his day, and was frequently to be seen dancing round the maypole or joining in the Morris dances on feast days Tip-cat was his favourite outdoor game, and he frequently joined the bellringers at the village church and was allowed to help them. In quieter moments Bunyan began to wonder if God would be displeased at the part he took in the games with

the village youths, and gradually, one by one, he forsook all those things he had loved when a boy, and became a Puritan of the sternest kind In the Civil War Bunyan fought against the king

After his marriage Bunyan moved to Bedford to be nearer the church, and although he continued his tinkering on week days, he often preached on the Sabbath—for he was found to have a great gift for preaching. He now became a wandering minister, and acquired much fame in the Midlands. In 1660 the Puritans fell into disfavour, and unauthorized preaching was forbidden Bunyan continued to preach in secret when the meeting house at Bedford was closed When he was arrested for this, he boasted that, were he released, he would be preaching again on the morrow The next twelve years of his life he spent in Bedford Gaol, where he occupied himself making tagged laces These he sold to pedlars, and the money realized helped to support his family He also spent much time reading and writing. In 1672 pardon was granted to Dissenters, in the "Declaration of Indulgence", so Bunyan was released

He now became the pastor of a new meeting house in Bedford. It was during a further imprisonment, about 1675, that Bunyan began his greatest work, *The Pilgrim's Progress*. This book was so popular that, within ten years of its completion, a hundred thousand copies had been sold. The book tells the story of the pilgrim, Christian, who sets out from the City of Destruction in search of the Heavenly City. He encounters terrible

difficulties in his fight against evil, but finally, across the River of Death, gets a glimpse of the Holy City, his goal.

The last years of Bunyan's life were spent in ministering to the wants of the sick, comforting those in trouble, and preaching his well-loved gospel. He caught a fatal chill through a severe wetting on his return from Reading in 1688. Thither he had been on an act of mercy, to try to patch up a terrible quarrel between a father and son. Thus he died as he had lived, in the service of mankind.

The Land

Seventeenth-century England was essentially an agricultural country The distress caused by enclosures in the last century was dying down There were still many manors where the old mediæval field could be seen with its scattered strips. On the common near by the sheep and cattle still grazed, and service was still rendered by the villagers as part payment for rent.

But more frequently the great estates had been converted into sheep pastures; for, with the high price and great demand for wool, the temptation to rear sheep was very great

Improved methods of agriculture now began to be studied with great keenness by the landowning classes. It was discovered that the fallow field of the old system could be used with advantage to grow root crops every third year, instead of lying idle Thus it became possible to feed cattle through the

winter instead of killing them in the autumn, as had been done in earlier times.

Robert Child advocated many reforms and more scientific methods of farming. Among these was manuring the soil. With the increase in the number of cattle kept now that the growth of root crops became widespread, there was plenty of manure available The use of this improved the pasture land as well as the ploughed land, and it is estimated that returns from the land increased five-fold, while the richer pastures also gave better stock.

With all these improvements the price of land rose steadily, and the eagerness of rich and poor to acquire it was remarkable. Moreover, the land-owning classes became more prosperous than they had ever been before—from the labourer with his four acres, granted him by statute, to the great land-lord with his vast estates. This prosperity showed itself in a marked degree in the increasing demands for the luxuries of life, and the homes and conditions of living of rich and poor improved tremendously during this century

A street water seller of the seventeenth century

HEADINGS AND HINTS FOR NOTES

LIFE IN STEWART TIMES.

Dress in Seventeenth Century

(*a*) Cavalier — Velvet — Doublet — Breeches — Coat — Curls—Hat—Boots

(*b*) Lady — Skirt — Petticoat — Bodice — Cuffs — Lace — Gloves — Perfume

(*c*) Puritan—Sombre—Hair—Serge Cloak—Collar—Hat

(*d*) Puritan Lady — Drab Gown — Collar — Hood — Cloak

Stewart Children. Parents' Love—Horn-book—Nursery —Richard Evelyn—Grammar Schools—Eton—Latin and Greek—Punishments—Daughters—Free Schools —Charity Schools

Newspapers· News-writer — News-books — Journalists — Advertisements—First Newspaper

Travel. Coaches — Driver — Roads — Stages — Inns — Night Travelling — Accommodation — Highwaymen — Gibbet — Post-chaise — " Flying Coaches " — Wagons — Toll Gates — Hackney Coaches — Sedan Chair

Literature

(*a*) *John Milton* Boyhood—School—College—Puritan — Horton — " L'Allegro ", &c.—Travel — Italy — Pamphlet — Blindness — Government Work — Cottage — London — Most Famous Poems—Death

(*b*) *John Bunyan* Prose Writer—Tinker—Elstow—Boyhood — Puritan — Civil War — Bedford — Preaching — Wandering Minister — Bedford Gaol — Declaration of Indulgence — Prison — " Pilgrim's Progress "—Last Years—Death

The Land Distress—Commons—Sheep Pastures—Root Crops—Robert Child—Manure—Price of Land—Landowner—Conditions of Living

EXERCISES

1. Show the difference between the dress of a Cavalier and a Puritan.
2. Write a short account of the Stewart children.
3. Describe the first newspaper and say how its circulation changed the life of the community
4. Imagine yourself a traveller in the seventeenth century, and describe a journey by stage coach
5. State one fact about each of the following Gibbet, "Flying Coach", Toll Gates, Hackney Coaches, Sedan Chairs.
6. How was a guest treated when he arrived at a seventeenth-century inn?
7. Write a brief account of the life of John Milton
8. Say what you know about John Bunyan
9. What led to the conversion of arable land into sheep pastures?
10. Why did land become more valuable at this time?

EXTRACT

A Highway Robbery in the Seventeenth Century

"The weather being hot, and having sent my man on before, I rode negligently under favour of the shade, till, within three miles of Bromley, at a place called the Procession Oak, two cut-throats started out, and striking with long staves at the horse and taking hold of the reins, threw me down, took my sword and haled me into a deep thicket, some quarter of a mile from the highway, where they might securely rob me, as they soon did My horse was perhaps not taken, because he was marked and cropped on both ears, and well-known on that road Left in this manner, grievously was I tormented with flies, ants, and the sun, nor was my anxiety little, how I should get loose in that solitary place, where I could neither hear nor see any creature, but my poor horse and a few sheep straggling in the copse After near two hours' attempting, I got my hands to turn

palm to palm, having been tied back to back, and then it was long before I could slip the cord over my wrists to my thumb, which at last I did, and then soon unbound my feet, and saddling my horse and roaming awhile about, I at last perceived dust arise, and soon after heard the rattling of a cart, towards which I made, and, by the help of two countrymen, I got back into the highway I rode to Colonel Blount's, a great justiciary of the times, who sent out hue and cry immediately " *John Evelyn's Diary*

(John Evelyn was Secretary of the Royal Society founded by Charles II (see Period Ten) in 1672 His *Diary* covers the period from the Civil War to the beginning of the eighteenth century, and contains much valuable information on the life of his time)

EXERCISES ON EXTRACT

1 What do you understand by " hue and cry "?

2 Why were incidents such as that described in the extract common in the seventeenth century?

BOOKS FOR REFERENCE AND ADDITIONAL READING

H R Wilton Hall *Social Life in England*

Victor Hugo. *By Order of the King*

M. & C H B Quennell *A History of Everyday Things in England—Book II*

Mary Coate *Social Life in Stuart England.*

John Evelyn *Diary*

TENTH PERIOD

FROM RESTORATION TO REVOLUTION. 1660–1689

The King Restored

On his death-bed Oliver Cromwell named as his successor his son Richard, a weak man with a mild, amiable disposition, but little strength of character Richard was made Protector, but he was no soldier, and the army refused to obey him Thus he soon resigned, and retired to his estates and the life he loved in the seclusion of the country. A year of confusion followed, when various army leaders aspired to Cromwell's position of Protector, but none succeeded in gaining any following.

Then General Monk, who was still in command of the army in Scotland and had been in secret communication with Charles Stewart, decided to take matters into his own hands With a large force he marched southward, being joined on the way to London by Fairfax On his arrival there, he disarmed the City and obtained the voluntary dissolution of the Rump Parliament, which had reassembled at the death of Cromwell He then proceeded to assemble a Convention Parliament, which resolved that the monarchy should be restored. An invitation was sent to Charles, who was in Holland anxiously watching affairs in England. Charles replied at once, gladly accepting, and

Charles II landing at Dover

promising a general pardon, religious liberty, and return of lands seized during the Civil War. He also undertook to govern with the advice of Parliament.

He entered London on 29th May, 1660, his thirtieth birthday, amid scenes of such enthusiasm that Clarendon remarked, " A man could not but wonder where those persons were, who had done all the mischief, and kept the king for so many years, from enjoying the comfort and support of such excellent subjects ".

Charles, who had been an exile since his escape from England at the end of the Civil War, determined " never to go on his travels again " He made up his mind to get as much enjoyment out of his kingship as he could

England was heartily tired of Puritan rule. Opposition had been steadily growing since the execution of Charles I. The abolition of the House of Lords, the suppression of local and central government, and the establishment all over the country of military rule which pronounced all amusements, sports, and pastimes to be sins, made the English people rejoice exceedingly at the fall of the powers that had brought all these things to pass. The experiment of the Republic had been a failure " A thing had happened never read of in history," wrote a contemporary, " that when monarchy was laid aside at the expense of so much blood, it shall return again, without the shedding of one drop "

Never did a king start to rule under more promising circumstances than did Charles II.

Character of Charles II

The new king was gay and pleasure-loving, and, like his father, was not to be trusted. The promise he had so lightly given to grant a general pardon was soon broken, and all those still living who had been concerned in the execution of Charles I were put to death. Further, the bodies of Cromwell and the chief Roundhead leaders were removed from their tombs in Westminster Abbey, dismembered, and hung in chains on the gallows at Tyburn; after which they were thrown into a pit at the foot of the gallows.

Charles was a clever but indolent man, with the saving grace of humour, which showed itself markedly throughout his reign of twenty-five years Pepys wrote of him, " the King do mind nothing but pleasure, and hates the very sight and thought of business " He was very extravagant, and the morals of his Court were bad — coarse wit and vulgar pleasures of all kinds being the order of the day. A friend of Pepys wrote, " the King and Court were never so bad as they are now, for gaming and swearing, women and drinking "

Progress of Science

However, Charles took a great interest in science, art, and literature. He loved to experiment in chemistry, and encouraged learned inquirers after knowledge to meet for general discussion. He founded the Royal Society in 1662, becoming its first President. It was called the Royal Society of

London for improving Natural Knowledge, and it met weekly at Gresham College

The sixteenth and seventeenth centuries saw many important scientific discoveries.

Galileo, an Italian astronomer, hearing that glass which caused distant objects to appear near had been made in the Netherlands, formed the idea of constructing the first telescope for watching the stars From observations with his new telescope he made many wonderful discoveries, among these, that the sun spins round on its axis like the earth, and that sun spots move across the sun. Churchmen declared this was impossible, and said that Galileo's eyesight was impaired. Later he was summoned to Rome and obliged to withdraw many of his new theories

William Harvey, by close investigation, found that the blood is pumped from the heart round the body, whence it returns to be purified for further use This theory of the circulation of the blood was at first discredited, but gradually, when it was a proved fact, doctors realized what a highly important discovery Harvey had made

Sir Isaac Newton, the great scientist and mathematician, was a member of the Royal Society in Charles II's reign It was the fall of an apple from a tree in his father's orchard that first caused Newton to think of the force of gravity. He also experimented with rays of light, and by means of a prism discovered that light could be split up into the seven colours of the rainbow

Sir Christopher Wren, the architect, of whom you
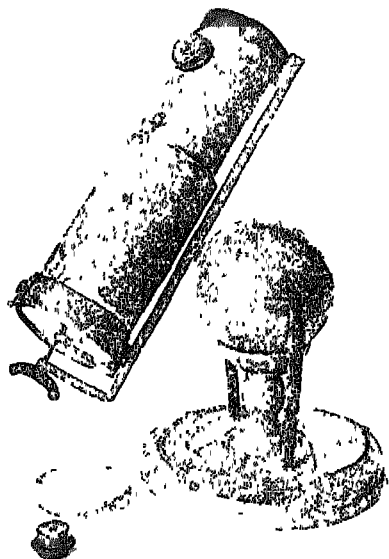
The Reflecting Telescope made by Sir Isaac Newton

will read more in this period, was another distinguished member of the newly founded Royal Society.

Religious Difficulties

Parliament meant England to return to the rule of Bishops, and at once set about to restore the Episcopal Church. Harsh laws were passed against dissenters, under the guidance of Edward Hyde, Earl of Clarendon, who was the king's chief adviser for the first seven years of his reign. Clarendon had served Charles with great loyalty, following him everywhere in his exile, but, unlike the king, he was strongly opposed to liberty of worship

In his heart, Charles secretly hoped to restore England to Roman Catholicism, and for this object he worked unceasingly all through his reign. He stooped to the basest acts to try to bring about its accomplishment However, his Parliament was resolved otherwise By the Clarendon Code, named after its most fervent supporter, a series of laws were passed to force High Church doctrines on everyone The Code declared that

1 All who held offices in town government should take the Communion of the Established Church.

2. The Prayer Book must be used in all public worship, and must be acknowledged by all clergymen.

3 None but the followers of the Church of England could preach, or teach in any school, or live within five miles of any place where they had formerly preached or taught

Two thousand clergy gave up their livings as a result of the Clarendon Code Many who continued to preach in secret were cruelly persecuted and thrown into prison You read in the last Period of John Bunyan, who was one of those who suffered for their beliefs. He spent twelve years in Bedford Gaol.

Others left England, as their ancestors, the Pilgrim Fathers, had done in the reign of James I, sailing to new lands where they could worship God in their own way. A sect called " Friends ", or Quakers, refused steadfastly to give up their

beliefs, and a number of them, with the great and good William Penn as their leader, founded the American colony of Pennsylvania in 1680. Charles himself objected to the Clarendon Code, and tried to persuade Parliament to repeal its Acts. Being unsuccessful, he issued a Declaration of Indulgence in 1672, which granted freedom of worship to Puritans and Roman Catholics alike. Parliament replied to this by the Test Act of 1673, which forbade the holding by Puritans or Roman Catholics of any office under the Crown. Even the Catholic Duke of York, who held office under the Admiralty, was compelled to resign his post This Act was not repealed until the nineteenth century.

The Second Dutch War

It is to Charles's credit that he was genuinely anxious to increase the trade of England and to extend her colonies So, jealous of his chief rivals, the Dutch, he declared war on them in 1664. The Duke of York, commanding the English fleet, won a great victory off Lowestoft in 1665, and a number of minor victories followed

Then in 1667, thinking our mastery of the sea had been established, Charles disbanded the fleet His main idea was to use the money voted for its upkeep for his own personal extravagances, which were very great. The Dutch seized this opportunity to avenge their defeats, by sailing up the Thames, bombarding and destroying the ships and ports, and sailing away with the Admiral's ship to Holland Of this incident Evelyn declared, "A dreadful

Quakers in the seventeenth century. A picture of the Marriage of William Penn

spectacle, and a dishonour never to be wiped off" It is said that the king, in company with many of his profligate courtiers, was chasing a large moth in the palace gardens when news of this disaster was brought to him. Thus heavily rested the cares of State on his shoulders!

Englishmen, much angered at this insult, which they declared was the greatest disgrace England had ever known, blamed the Earl of Clarendon, and impeached him. In spite of the long and faithful services he had given to the king, Charles, with the base ingratitude so typical of the Stewarts, made no effort to save his minister Clarendon escaped to France, where he spent the rest of his life His *History of the Great Rebellion*, which was written during his banishment, gives a wonderful picture of England during the Civil War, and is invaluable for historical reference An inglorious peace was made with the Dutch in 1667 New Amsterdam, which was renamed New York in honour of the sailor Prince, the Duke of York, was handed over to England by the Dutch.

The Great Plague

Meanwhile, a terrible calamity befell London in 1665. You know that the streets in those times were narrow and sunless, moreover, as there was no system for cleansing them or draining away refuse, this was allowed to collect and lie about in the "kennel". Consequently, nauseous smells were common, especially in summer when the weather was hot It was no uncommon thing for a pedestrian

to be covered with the rubbish thrown out of pails from the upper storey windows of these seventeenth-century houses Small wonder that plagues broke out from time to time You will remember the Black Death of the fourteenth century. The outbreak during the reign of Charles II was the most violent ever known, claiming nearly a hundred thousand victims. At the height of this awful visitation the scenes in London were appalling. Infected houses were marked with a red cross, and a watchman was stationed outside to prevent the occupants leaving or visitors entering Thus the stricken victims were often left to breathe their last unattended, and surrounded by the dead As the plague spread, it became impossible to afford the dead proper burial. Their bodies were collected in death carts, and tossed into huge pits dug for the purpose. The plague gradually died down during the winter, and the wealthy people, who had fled to escape infection, returned to the city once more.

" What staring to see a nobleman's coach come to town? And porters everywhere to bow to us, and such begging of beggars And delightful it is to see the town full of people and the shops begin to open," wrote Samuel Pepys in his *Diary* on his arrival once more in London

The Great Fire—1666

Close on the plague followed the Great Fire of London, which lasted four days and nights. It broke out near London Bridge, and the flames, fanned by a strong wind, spread along the Thames

side rapidly, consuming warehouses and storehouses. As the houses were built largely of wood, the conflagration spread quickly from street to street. The following is a description of the Fire from John Evelyn's *Diary*, written on 2nd September, 1666

"This fatal night, about ten, began that deplorable fire near Fish Street in London The fire having continued all this night (if I may call that night which was as light as day for ten miles round about) and driven by a fierce east wind in a very dry season, I saw the whole south part of the city burning from Cheapside to the Thames, and all along Cornhill—and the fire was now taking hold of St Paul's Church. The conflagration was so universal, and the people so astonished that from the beginning they hardly stirred to quench it, so that there was nothing heard or seen but crying out and lamentation, and running about like distracted creatures without at all attempting to save their goods It burned both in length and breadth, the Churches, Public Halls, Exchange, Hospitals, Monuments, and ornaments, leaping after a wonderful manner from house to house and street to street. Here we saw the Thames covered with goods floating, and the carts carrying out to the fields, which for many miles were strewn with moveables of all sorts All the sky was of a fiery aspect, like the top of a burning oven, the light seen above forty miles round for many nights God grant my eyes may never again behold the like, nor see above ten thousand houses all in one flame. The noise

and creaking and thunder of the impetuous flames, the shrieking of women and children, the hurry of people, the fall of towers, houses, and churches, was like an hideous storm, and the air all about so hot and inflamed, that at last, one was not able to approach it. The clouds of smoke were dismal, and reached nearly fifty miles in length. London was, but is no more!"

It is to the king's credit that he made determined efforts to stop the fire, and finally, he ordered the fleet to blow up with gunpowder whole rows of houses to stay the flames. Of course, fire engines were unknown at this time. In this way the fire was at last got under, but enormous damage had been done. A hundred thousand people were rendered homeless; eighty-four churches, besides Old St. Paul's and the Guildhall, were burned down; thirteen thousand two hundred houses were demolished; but it is said that only a dozen lives were lost.

London Rebuilt

Much good afterwards resulted from the Great Fire, for London was rebuilt with wider streets, where fresh air and sunlight could penetrate with ease. Houses of stone and brick were erected, and the last remnants of the Plague were stamped out.

Sir Christopher Wren, the famous architect of this time, rebuilt St. Paul's Cathedral and fifty-four London churches, besides numerous other buildings, many of which are standing to-day. The tomb of this great man is in St. Paul's Cathedral,
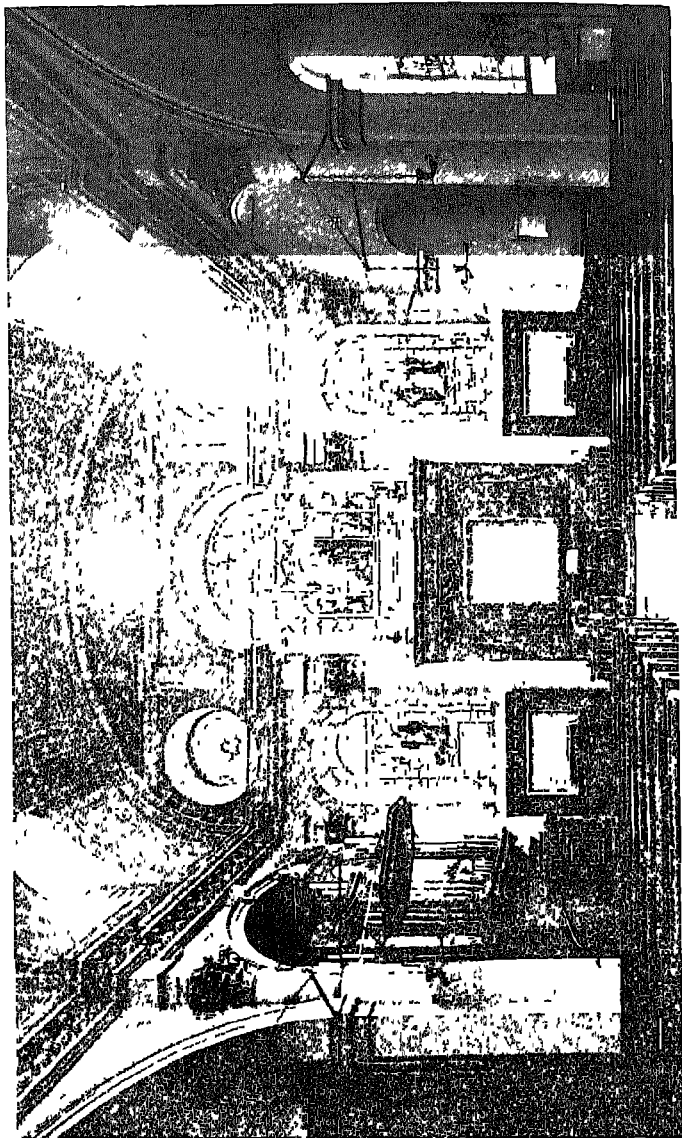
Inside a church designed by Sir Christopher Wren

and on it appears the following Latin inscription

"Si Monumentum Requiris, Circumspice"

This means, "If you seek his monument, look around you."

People now began to pay increased attention to the interior decoration of their houses and public buildings. Grinling Gibbons was the greatest carver and sculptor of this age He was discovered by John Evelyn, the Diarist, in 1671. "I found him," says Evelyn, "shut in a poor solitary thatched house, in a field in our parish, near Sayes Court; but looking in at a window, I perceived him carving a huge cartoon of Tintoret from Venice. I asked him if I might enter, and questioned him why he worked in such an obscure and lonesome place; he told me that he might apply himself to his profession without interruption. I asked him if he would be willing to be made known to some great man, for that I believed it might turn to his profit."

Evelyn introduced the young carver to Sir Christopher Wren, whose patronage he obtained He worked for Wren, carving the choir stalls and many of the wood decorations in St Paul's Cathedral, and in other notable buildings designed by his great patron. Many wonderful examples of his marvellous wood carving are still preserved at Blenheim Palace, Chatsworth, Petworth, and other great houses.

The Cabal

After the fall of Clarendon, Charles II chose five ministers, Clifford, Arlington, Buckingham, Ashley,

and Lauderdale, who formed a secret council, or "Cabal" (a word made up from the initials of their names), to advise the king. They were chosen without consulting Parliament, and became very unpopular because they tried to bring about secret treaties with foreign powers, regardless of the wishes of Parliament. It was with the knowledge of at least two of the ministers of the Cabal that Charles made the secret Treaty of Dover with Louis XIV of France in 1670. By this Treaty Charles agreed to try to restore Roman Catholicism to England when a favourable opportunity occurred. Further, he promised to assist the French king against the Dutch, who were now allies of England. In return for these dishonourable promises, Charles received large sums of money from France, thus deliberately selling himself to France

Wild Rumours

Titus Oates, a man of bad character and a liar, declared that Roman Catholics were plotting to murder Charles, destroy English Protestantism, and put the Catholic James, Duke of York, on the throne The scoundrel had not a single proof to guarantee the truth of his story; but it was generally believed, and, in the panic that followed, many innocent Catholics were put to death and a dreadful persecution of Romanists followed

A Bill was introduced into Parliament, called the Exclusion Bill, which sought to exclude from the English throne James, Duke of York, who was the heir-presumptive, as Charles II had no son. How-

ever, it did not become law, for both the king and the House of Lords refused to sanction its passing. Those who supported the natural succession were known as Tories, while those in favour of the Exclusion Bill were called Whigs Macaulay writes, "Every county, every town, every family, was in agitation; friend quarrelled with friend, brother with brother, and even school boys were divided into angry parties". Thus were planted the seeds of party politics.

When Charles II died in 1685, there were few regrets. He was admitted into the Roman Catholic Church on his deathbed, and his humour did not desert him even at the last, for he apologized for "being such an unconscionable time dying".

James II — 1685-1688

As the Exclusion Bill had not become law, James, Duke of York, Papist though he was, succeeded his brother on the English throne At his accession he promised "to preserve the laws inviolate, and to protect the Church of England". A rising in favour of the Protestant Duke of Monmouth, who was the natural son of Charles II, was easily repressed at the Battle of Sedgemoor. Monmouth was hounded down, and, in spite of his earnest entreaties for mercy, was beheaded. Lord Chief Justice Jeffreys was sent to try those rebels who had escaped death in battle. At the Assizes which he held in the West Country, he treated them with such horrible cruelty that his tour became known as the "Bloody Circuit". More

than three hundred people were conde
death, and eight hundred were sent to
Indies as slaves Some were hung alive fro
steeples, others were cut in pieces before t
quite dead, while many who had sheltered
fugitives were burned alive.

In Scotland, the Duke of Argyll headed a
in support of Monmouth, but it, too, w
stamped out

Declaration of Indulgence

James II had two aims, which he kept
view, (1) to make England a Roman Catholic
(2) to rule as an absolute king—for he believ
Divine Right of Kings as persistently as hi
Charles I, had done.

To ease the severe laws in force ag
Catholics, James issued two Declarations
dulgence, allowing liberty of worship to
setting aside the Test Act, which preventec
Catholics taking offices of state

He next began to place Roman Catholics
offices in the Navy, Army, Civil Service,
in the Universities at Oxford and Ca
When some of the Fellows objected to a
Catholic as their Head, the king shouted
"I am King, I will be obeyed. Go to you
this instant, and elect the Bishop. Let th
refuse, look to it, for they shall feel the whol
of my hand."

The Trial of the Seven Bishops

In 1688 James ordered the second Declaration of Indulgence to be proclaimed in all the churches. The Archbishop of Canterbury and six Bishops refused to do this, and begged the king to withdraw it They were arrested on a charge of libel, and sent to the Tower to await their trial. "They passed to their prison amid the shouts of a great multitude, the sentinels knelt for their blessing as they entered its gates, and the soldiers of the garrison drank their healths" When they were acquitted, the bells of the churches pealed out, bonfires were lighted in the streets, and scenes of unparalleled rejoicing were manifest everywhere "There was a lane of people from King's Bench to the waterside on their knees, as the bishops passed and repassed, to beg their blessing." Even the king's troops at Hounslow cheered when they heard the verdict, and the king, learning the reason for their joy, said, "So much the worse for them" This popular verdict sounded the death-knell of the king

The Glorious Revolution—1688

Three weeks before the trial of the Seven Bishops, a son had been born to James II. Dreading that he might be brought up as a Roman Catholic like his father, leading men of all parties decided to invite Mary, the Protestant daughter of James II, and her husband, William, Prince of Orange, to come and help them to put an end to the misrule of James. The invitation was accepted, and William

sailed with his fleet along the English Channel, landing at Torbay, in Devonshire.

James tried frantically to undo the mischief of the last three years He promised to respect the wishes of Parliament and to support the Church of England; but it was too late. Everyone welcomed William of Orange, and even the army joined him. James fled to France with his wife and infant son, and was kindly received by the French king. On his way thither he dropped the Great Seal into the Thames, foolishly thinking he could thus stop all State business. So he was not driven from his throne—he deserted it.

Early in 1689 William called a Convention Parliament, which declared James II to be no longer king of England, and settled the English Crown, jointly, on himself and his wife, Mary This great change is known as the Glorious Revolution, and was brought about without bloodshed. At last the struggle between King and Parliament, which had lasted all through the reigns of the Stewart kings, had come to an end.

By the Bill of Rights, in 1689, the powers of the Crown and Parliament were clearly defined England became a "limited" monarchy; and ever since, its kings have bowed to the wishes of Parliament and its chosen ministers.

TIME CHART, 1603-1689

Year	Famous Events	Famous People
1603	James VI, Scotland, became James I of United Kingdom. 1605, Gunpowder Plot 1611, Authorized Version of the Bible	
1620	Sailing of the Pilgrim Fathers. 1625, Death of James ,, Charles I, King 1628, Petition of Right	Strafford. Laud.
1630		
1640	1642, Civil War 1644, Battle of Marston Moor. 1649, Execution of Charles I ,, Commonwealth	Oliver Cromwell Robert Blake.
1650	1655, Cromwell, Protector 1658, Cromwell's Death	Milton
1660	Charles II, King 1665, Great Plague 1666, Great Fire 1685, Death of Charles ,, James II, King	John Bunyan Samuel Pepys. Isaac Newton Christopher Wren.
1689	William and Mary	

HEADINGS AND HINTS FOR NOTES

FROM RESTORATION TO REVOLUTION 1660–1689.

The King Restored: Richard Cromwell—General Monk—Rump Parliament—Convention Parliament—Charles II Restored—Enjoyment—Failure of Republic

Character of Charles II: Pleasure Loving—Promises—Tyburn—Clever—Extravagant—Court

Progress of Science Charles's Interest—Royal Society—Gresham College — Galileo — Telescope — William Harvey—Sir Isaac Newton—Apple—Gravity—Prism —Sir Christopher Wren

Religious Difficulties Bishops' Rule—Earl of Clarendon—Roman Catholicism — Clarendon Code — Result — " Friends " or Quakers—William Penn—Declaration of Indulgence—Test Act

Second Dutch War Trade—Duke of York—Lowestoft—Dutch—Thames—Clarendon's Escape—Peace

Great Plague. Streets — Smells — Rubbish — London — Watchman—Bodies

Great Fire London Bridge—Spread of Fire—Houses Blown up—Result

London Rebuilt: Fresh Air—Stone Houses—St Paul's—Christopher Wren—Grinling Gibbons—Carvings

The Cabal Five Ministers—Secret Treaties—Treaty of Dover—English King's Promises—Dishonourable

Wild Rumours Titus Oates—Catholic Persecution—Exclusion Bill—Tories—Whigs—Death of Charles

JAMES II

Promises — Monmouth — Sedgemoor — Judge Jeffreys—" Bloody Assize "—Duke of Argyll

Declarations of Indulgence Two Aims—Severe Laws—Roman Catholics—High Offices

Trial of Seven Bishops Protest—Archbishop of Canterbury and Six Bishops—Charge of Libel—Prison—Acquitted—Scenes—Bonfires, &c

Glorious Revolution Mary—Prince of Orange—Misrule of James—Torbay—Flight of James—Throne Deserted—Convention Parliament—Bill of Rights—Limited Monarchy

EXERCISES

1 Write a few sentences about the character of Charles II.

2. Name three men connected with scientific discoveries at this time, and state one or two facts about each one.

3. What laws made up the Clarendon Code, and why were they so named?

4 Write one or two facts about each of the following Sir Christopher Wren, Quakers, Declaration of Indulgence, William Penn, Test Act

5. Explain this quotation "A dreadful spectacle and a dishonour never to be wiped out"

6 Say what you know of the Great Plague and the Great Fire

7. What were the good results of the Great Fire?

8 What do you know of Secret Treaty of Dover, Titus Oates, Exclusion Bill, Whigs and Tories?

9 Write a few sentences about Judge Jeffreys, "Bloody Assize", Earl of Clarendon

10 Describe the trial of the Seven Bishops

11 What fact is connected with each of the following dates 1660, 1662, 1665, 1666, 1670, 1680, 1685?

MAPS AND CHARTS

1 From the Time Chart make a list of the chief events and famous men of Stewart days

2. On a Time Line mark the dates of the following: Hampton Court Conference, Authorized Version of the Bible, Death of Shakespeare, Battle of Naseby, Great Fire, Clarendon Code, Glorious Revolution.

REVISION EXERCISES

1. Name one event connected with each of the following dates: 1605, 1611, 1620, 1644, 1665, 1688

2 Choose three of the following and write a few lines on each: Guy Fawkes—Earl of Strafford—Oliver Cromwell—Admiral Blake—John Bunyan—Christopher Wren—Sir Isaac Newton

3. What do you know of the following: Hampton Court Conference — Pilgrim Fathers — Petition of Right — New Model Army—Great Fire—Trial of Seven Bishops.

4 Say all you can about the following

(*a*) " What d'ye lack, come buy, come buy "
(*b*) " No bishop, no king "
(*c*) " He nothing common did or mean
Upon that memorable scene."
(*d*) " Horn-books."
(*e*) " If you seek his monument, look around you "

EXTRACT

London in August, 1665, during the Great Plague

" Now people fall as thick as leaves in autumn when they are shaken by a mighty wind. Now there is a dismal solitude in London streets; every day looks with the face of a Sabbath day, observed with a greater solemnity than it used to be in the City. Now shops are shut up, people rare, and very few that walk about, in so much that the grass begins to spring in some places, and a deep silence is in every place especially within the walls No prancing horses, no rattling coaches, no calling in customers nor offering wares, no London cries sounding in the ears If any voice be heard, it is the groans of dying persons breathing forth their last, and the funeral knells of them that are ready to be carried to their graves. Now shutting up of visited houses (there being so many) is at an end, and most of the well are mingled among the sick, which otherwise

would have got no help. Now in some places, where the people did generally stay, not one house in a hundred but what is affected, and in many houses, half the family is swept away, in some, from the eldest to the youngest now the nights are too short to bury the dead the whole day, though at so great a length, is hardly sufficient to light the dead that fall thereon into their grave "

> (Many dissenting clergymen who had been deprived of their Church of England livings on account of their beliefs remained in London during the Great Plague of 1665, and to their great credit ministered to the relief of those who suffered from it It was one of these clergymen who wrote this extract)

EXERCISES ON EXTRACT

1 To what does the above extract refer? Write the description briefly in your own words

2. What were the main causes of this dreadful calamity?

BOOKS FOR REFERENCE AND ADDITIONAL READING

M E Braddon *London Pride*
Cosmo Hamilton *His Majesty the King*
M Johnston *The Old Dominion*
W Besant· *For Faith and Freedom*
Sir A C Doyle. *Micah Clarke*
Daniel Defoe. *Journal of the Plague Year.*
W H Ainsworth *Old St Paul's*
G A Henty *When London Burned*
R. D Blackmore *Lorna Doone*
Sir Walter Scott *Peveril of the Peak.*
Sir Walter Scott *Old Mortality*
H Strang. *Winning His Name*
R. Sabatini. *Captain Blood.*

TWELVE MEMORABLE DATES

1492 Christopher Columbus discovered America.

1534 Act of Supremacy—Henry VIII declared Head of the Church in England

1577–1580 Drake's voyage round the world

1588 Defeat of the Spanish Armada.

1605 Gunpowder Plot

1616 Death of William Shakespeare

1620 Pilgrim Fathers landed in " New England "

1628 Petition of Right agreed to by Charles I

1649 Execution of Charles I

1665 Plague of London

1666 Fire of London

1688 Trial of Seven Bishops and landing of William and Mary of Orange.